* ओ३म् *
तीन ब्रह्मचारी
(ब्रह्मचर्य के विशेष सन्दर्भ मे)
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

॥ ओ३म् ॥
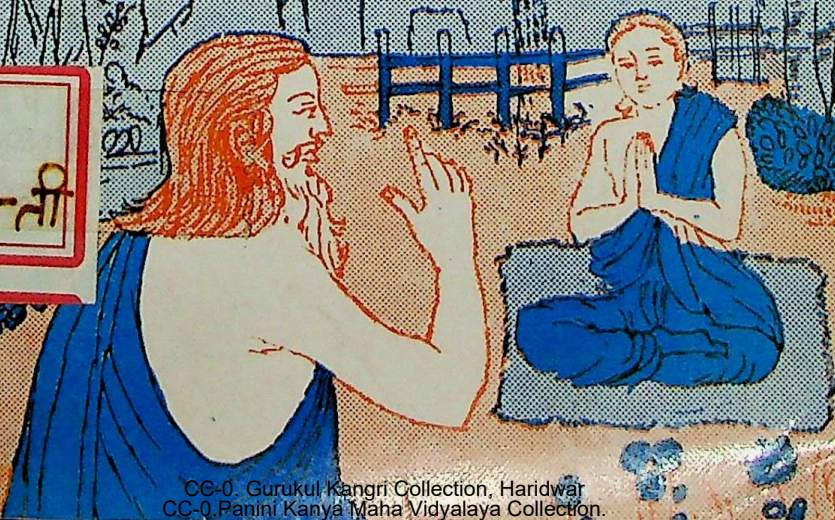
तीन ब्रह्मचारी

भीष्म पितामह, आदिशंकराचार्य तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती का तुलनात्मक अध्ययन

(ब्रह्मचर्य के विशेष सन्दर्भ में)

लेखक

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती
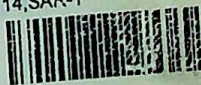
विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

अनुक्रमणिका

भूमिका	४
धनुर्विद् भीष्म–देवव्रत	७
ब्रह्मविद् शंकर	२५
शंकर का अद्वैतवाद	४२
वेदाध्ययन में अधिकार	५७
वेदविद् दयानन्द	६७
ब्रह्मचर्य की शक्ति	९९

।। ओ३म् ।।

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में वर्णित तीनों ब्रह्मचारियों का वर्णन भारतीय संस्कृति के आदर्शों की उच्च परिणति है। उच्च आदर्शों की ऐसी परम्परा विश्व में अन्यत्र कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती। इनमें महर्षि दयानन्द तो भारत के भाग्यविधाता ही हैं। परतन्त्र भारत की स्वतन्त्रता के ध्वजवाहक हैं। अतएव विदेशियों की क्रूर कूटनीति की अग्नि में बलि हुए हैं। साथ ही उनका स्थापित आर्यसमाज भी आज उसी कूटनीति का शिकार हुआ पतन के पथ का राही हो रहा है। ब्रह्मचर्य की शक्ति महान् है। वही एक शक्ति है जो मृत्यु को भी चुनौती देने का साहस कर सकती है। मृत्यु को दूर खड़ा करने वाले भीष्म पितामह और महर्षि दयानन्द इस के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। चाणक्य का कथन है–**राष्ट्रस्य मूलं ब्रह्मचर्यम्**। राष्ट्र का आधार ब्रह्मचर्य है। **सुखस्य मूलं धर्मः**। सुख का मूल धर्म है। पाठकों को इन तीनों ही ब्रह्मचारियों की जीवन झांकी, जीवन चरित्र एवम् उनकी कृतियों के विवेचन प्रस्तुत हैं।

ब्रह्म=ईश्वर उसके ज्ञान शब्दब्रह्म, जीवात्मा और प्रकृति–ये तीनों अपने आप में महान् होने से ब्रह्म हैं। इन तीनों के गहरे तल में बैठकर जो इन के ज्ञान का अवगाहन करता है उसे ही ब्रह्मचारी कहते हैं। **यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे**–जो इस शरीर में है वही ब्रह्माण्ड में है। इस ब्रह्माण्ड की अनुकृति इस शरीर की बृहद् रचना का ज्ञान प्राप्त कर अपना संयम कर अपनी वीर्यशक्ति को जो अमोघ बना लेता है वह भी ब्रह्मचारी कहा जाता है। जो ईश्वर, जीव, प्रकृति के ज्ञान को प्राप्त कर प्रकृति के एक अंश शरीर का भी ज्ञाता बन जाये वही पूर्ण सफल ब्रह्मचारी होता है।

प्रस्तुत तीन ब्रह्मचारियों में पहले भीष्म पितामह ब्रह्मचारी, योगी होते हुए भी अपने को अर्थ का दास मान कर एक संकुचित दायरे में बंधकर रह गये। ब्रह्म=वेदज्ञान उसे भुलाकर क्षुद्रमना बन गये। अपने शारीरिक तेज मात्र के आश्रित होने से ब्रह्मचर्य के महान् व्यक्तित्व से हीन हो अपना भव्य स्वरूप खो बैठे। संक्षेप में अपने पिता के लिए महान् ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा लेने से भीष्म कहलाये। राज्याश्रय होने से यशस्वी बने।

दूसरे आदि शंकराचार्य ब्रह्मचारी थे। ब्रह्मचर्य आश्रम में ही शिक्षा लेकर योग में और ब्रह्म में समर्पित विद्वान् हुए। सामान्योत्तर प्रतिभाशाली तार्किक होकर कार्यक्षेत्र में आये। माँ से संन्यास की स्वीकृति लेकर संन्यासी बने। जिस काल में ये कार्यक्षेत्र में आये वह जैन बौद्धों का काल था। शंकराचार्य को अपने कार्यक्षेत्र के प्रारम्भ में ही राज्याश्रय प्राप्त हो गया। उसी के सहाय से देशभर में घूम कर अपने योग, ब्रह्मचर्यबल से जैन-बौद्धों को परास्त कर दिग्विजयी बने। इतने पर भी ब्रह्म=ईश्वर, वेद, प्रकृति और जीवात्मा के ज्ञान को यथासम्भव प्राप्त करके भी अकेले ब्रह्म को ही लेकर काल की मांग के अनुसार उसी का प्रतिपादन कर आगे बढ़ते गये। दुर्भाग्यवश जैन बौद्धों ने प्रच्छन्न रूप से उन को विष देकर उनके प्राण ले लिये।

तीसरे महर्षि दयानन्द भारतीय इतिहास के सूर्योपम ब्रह्मचारी योगी, सन्त, भक्त, देशभक्त, गोभक्त, वेद के ज्ञाता, प्रवक्ता, सुधारक अपूर्व ऋषि थे। नीति के प्रवक्ता षष्ठ समुल्लास में शत्रु से जय प्राप्त करने के लिए अवसर को पहचानने की शिक्षा देकर भी स्वयं जोधपुर में धोखा खा गये। नीतिमत्ता को त्याग पूर्ण सन्त बने रहे। योगी होकर भी देश के भले के लिए जीवनरक्षा न कर सके।

उन्होंने सारे जग के विरोधी होने पर भी अकेले अभिमन्यु सम देश में पनप रहे दस्यु संस्कृति के दुर्गम अभेद्य दुर्ग को तोड़

कर आर्य जाति की रक्षा की। भीष्म और शंकराचार्य को तो राज्याश्रय प्राप्त था। महर्षि दयानन्द तो विना राज्याश्रय के देश ही नहीं विदेश में भी अपने यश का विस्तार कर गये। महर्षि महाभारत काल के बाद विलुप्त वेदविद्या के महान् उद्धारक हुए। मूर्तिपूजा से विलुप्त ईश्वर को प्रत्यक्ष करके जग को प्रत्यक्ष बता गये। देशहितार्थ ब्रह्मचर्यपालन, वैदिक धर्म, आर्यभाषा का प्रचार कर देश की एकता की दृढ़ नींव रख गये।

संक्षेप में कहा जाये तो **प्रथम** भीष्म एक क्षत्रिय योद्धा थे। वे अपने ब्रह्मचर्य बल से पूजित हुए। **द्वितीय** ब्रह्मचारी शङ्कर ने अपने ब्रह्मचर्य बल के तेज से सभी नास्तिक जैन बौद्धों को पराजित कर दिग्विजय किया और 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' से ईश्वर की स्थापना की। जगत्=जैन बौद्ध मिथ्या हैं। सत्य तो केवल ब्रह्म ही है। **तीसरे** श्री महर्षि दयानन्द तो सभी से अद्वितीय ही रहे। सारे परतन्त्र देश को स्वतन्त्र कराया। भयङ्कर अविद्यान्धकार को दूर कर शिक्षा का प्रचार किया। देशहित में गोभक्ति, ब्रह्मचर्य-पालन, वेदोद्धार, ईश्वर की सत्य उपासना आदि अपने ब्रह्मचर्य बल से ही स्थापित किये। सारे जग से अकेले ही संग्राम किया। जीवन के सभी क्षेत्रों में मार्गदर्शन किया। ज्ञानविज्ञान प्राचीन संस्कृति की अद्वितीयता का प्रतिपादन कर हताश आर्यजाति को स्वाभिमान जगा कर खड़ा कर दिया।

—**विश्वदेव शास्त्री**, *साहित्याचार्य, एम०ए०*

धनुर्विद् भीष्म–देवव्रत

एक दिन महाराज शान्तनु की पूर्वपत्नी गंगा से उत्पन्न उनके पुत्र देवव्रत ने पिता को चिन्तित अवस्था में घूमते हुए देखा तो वे उसी समय तुरन्त अपने पिता के हितैषी बूढ़े मन्त्री के पास गये और पिता के शोक का वास्तविक कारण क्या है, इसके विषय में पूछ-ताछ की ।।७३।।

तस्मै स कुरुमुख्याय यथावत् परिपृच्छते ।
वरं शशंस कन्यां तामुद्दिश्य भरतर्षभ ।।७४।।

भरतश्रेष्ठ ! कुरुवंश के श्रेष्ठ पुरुष देवव्रत के भलीभाँति पूछने पर वृद्ध मन्त्री ने बताया कि महाराज एक कन्या से विवाह करना चाहते हैं ।।७४।।

सूतं भूयोऽपि संतप्त आह्वयामास वै पितुः ।।
सूतस्तु कुरुमुख्यस्य उपयातस्तदाज्ञया ।
तमुवाच महाप्राज्ञो भीष्मो वै सारथिं पितुः ।।

उसके बाद भी दुःख से दुखी देवव्रत ने पिता के सारथि को बुलाया। राजकुमार की आज्ञा पाकर कुरुराज शान्तनु का सारथि उनके पास आया। तब महाप्राज्ञ भीष्म ने पिता के सारथि से पूछा ।।

भीष्म उवाच

त्वं सारथे पितुर्मह्यं सखासि रथयुग् यतः ।
अपि जानासि यदि वै कस्यां भावो नृपस्य तु ।।
यथा वक्ष्यसि मे पृष्टः करिष्ये न तदन्यथा ।

भीष्म बोले–सारथे ! तुम मेरे पिता के सखा हो, क्योंकि

उनका रथ जोतनेवाले हो। क्या तुम जानते हो कि महाराज का अनुराग किस स्त्री में है ? मेरे पूछने पर तुम जैसा कहोगे, वैसे ही करूँगा, उसके विपरीत नहीं करूगा।

सूत उवाच

दाशकन्या नरश्रेष्ठ तत्र भावः पितुर्गतः ।
वृतः स नरदेवेन तदा वचनमब्रवीत् ॥
योऽस्यां पुमान् भवेद् गर्भः स राजा त्वदनन्तरम् ।
नाकामयत तं दातुं पिता तव वरं तदा ॥
स चापि निश्चयस्तस्य न च दद्यामतोऽन्यथा ।
एवं ते कथितं वीर कुरुष्व यदनन्तरम् ॥

सूत बोला—नरश्रेष्ठ ! एक धीवर की कन्या है, उसी के प्रति आपके पिता का अनुराग हो गया है। महाराज ने धीवर से उस कन्या को माँगा भी था, परन्तु उस समय उसने यह शर्त रखी कि 'इसके गर्भ से जो पुत्र हो, वही आपके बाद राजा होना चाहिये।' आपके पिता जी के मन में धीवर को ऐसा वर देने की इच्छा नहीं हुई। इधर उसका भी पक्का निश्चय है कि यह शर्त स्वीकार किये बिना मैं अपनी कन्या नहीं दूँगा। वीर ! यही वृत्तान्त है, जो मैंने आप से निवेदन कर दिया। इसके बाद आप जैसा समझें, वैसा करें ॥

ततो देवव्रतो वृद्धैः क्षत्रियैः सहितस्तदा ।
अभिगम्य दाशराजं कन्यां वव्रे पितुः स्वयम् ॥७५॥

यह सुनकर कुमार देवव्रत ने उस समय बूढ़े क्षत्रियों के साथ निषादराज के पास जाकर स्वयं अपने पिता के लिए उसकी कन्या माँगी ॥७५॥

तं दाशः प्रतिजाग्रह विधिवत् प्रतिपूज्य च ।
अब्रवीच्चैनमासीनं राजसंसदि भारत ॥७६॥

भारत ! उस समय निषाद ने उनका बड़ा सत्कार किया और विधिपूर्वक पूजा करके आसन पर बैठने के पश्चात् साथ आये हुए क्षत्रियों की मण्डली में दाशराज ने उनसे कहा ।।७६।।

दाश उवाच

राज्यशुल्का प्रदातव्या कन्येयं याचतां वर ।
अपत्यं यद् भवेत् तस्याः स राजास्तु पितुः परम् ॥

दाशराज बोला—याचकों में श्रेष्ठ राजकुमार ! इस कन्या को देने में मैंने राज्य को ही शुल्क रखा है । इसके गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो, वही पिता के बाद राजा हो ।

त्वमेव नाथः पर्याप्तः शान्तनोर्भरतर्षभ ।
पुत्रः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः किं तु वक्ष्यामि ते वचः ।।७७।।

भरतर्षभ ! राजा शान्तनु के पुत्र अकेले आप ही सब की रक्षा के लिए पर्याप्त हैं । शस्त्रधारियों में आप सब से श्रेष्ठ समझे जाते हैं परन्तु तो भी मैं अपनी बात आप के सामने रक्खूँगा ।।

को हि सम्बन्धकं श्लाघ्यमीप्सितं यौनमीदृशम् ।
अतिक्रामन्न तप्येत साक्षादपि शतक्रतुः ।।७८।।

ऐसे मनोऽनुकूल और स्पृहणीय उत्तम विवाद-सम्बन्ध को ठुकराकर कौन ऐसा मनुष्य होगा जिसके मन में सन्ताप न हो ? भले ही वह साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो ।।७८।।

अपत्यं चैतदार्यस्य यो युष्माकं समो गुणैः ।
यस्य शुक्रात् सत्यवती सम्भूता वरवर्णिनी ।।७९।।

यह कन्या एक आर्य पुरुष की सन्तान है, जो गुणों में आप लोगों के ही समान है और जिनके वीर्य से इस सुन्दरी सत्यवती का जन्म हुआ है ।।७९।।

तेन मे बहुशस्तात पिता ते परिकीर्तितः ।
अर्हः सत्यवतीं वोढुं धर्मज्ञः स नराधिपः ॥८०॥

तात ! उन्होंने अनेक बार मुझ से आपके पिता के विषय में चर्चा की थी । वे कहते थे, सत्यवती को व्याहने योग्य तो केवल धर्मज्ञ राजा शान्तनु ही हैं ॥८०॥

अर्थितश्चापि राजर्षिः प्रत्याख्यातः पुरा मया ।
स चाप्यासीत् सत्यवत्या भृशमर्थी महायशाः ॥८१॥
कन्यापितृत्वात् किञ्चित् तु वक्ष्यामि त्वां नराधिप ।
बलवत्सपत्नतामत्र दोषं पश्यामि केवलम् ॥८२॥

महान् कीर्ति वाले राजर्षि शान्तनु सत्यवती को पहले भी बहुत आग्रहपूर्वक माँग चुके हैं; किन्तु उनके माँगने पर भी मैंने उन की बात अस्वीकार कर दी थी । युवराज ! मैं कन्या का पिता होने के कारण कुछ आप से भी कहूँगा ही । आपके यहाँ जो सम्बन्ध हो रहा है, उस में मुझे केवल एक दोष दिखायी देता है, बलवान् के साथ शत्रुता ॥८१-८२॥

यस्य हि त्वं सपत्नः स्या गन्धर्वस्यासुरस्य वा ।
न स जातु चिरं जीवेत् त्वयि क्रुद्धे परन्तप ॥८३॥

परन्तप ! आप जिसके शत्रु होंगे, वह गन्धर्व हो या असुर, आपके कुपित होने पर कभी चिरजीवी नहीं हो सकता ॥

एतावानत्र दोषो हि नान्यः कश्चन पार्थिव ।
एतज्जानीहि भद्रं ते दानादाने परन्तप ॥८४॥

पृथ्वीनाथ ! बस, इस विवाह में इतना ही दोष है, दूसरा कोई नहीं । परन्तप ! आपका कल्याण हो, कन्या को देने या न देने में केवल यही दोष विचारणीय है; इस बात को आप अच्छी तरह समझ लें ॥८४॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयस्तद्युक्तं प्रत्यभाषत ।
शृण्वतां भूमिपालानां पितुरर्थाय भारत ॥८५॥

वैशम्पायन जी कहते हैं–जनमेजय ! निषाद के ऐसा कहने पर गङ्गानन्दन देवव्रत ने पिता के मनोरथ को पूर्ण करने के लिए सब राजाओं के सुनते-सुनते यह उचित उत्तर दिया–॥

इदं मे व्रतमादत्स्व सत्यं सत्यवतां वर ।
नैव जातो न वा जात ईदृशं वक्तुमुत्सहेत् ॥८६॥

'सत्यवानों में श्रेष्ठ निषादराज ! मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा सुनो और ग्रहण करो । ऐसी बात कह सकनेवाला कोई मनुष्य न अबतक पैदा हुआ है और न आगे पैदा होगा ॥

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे ।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति ॥८७॥

'लो, तुम जो कुछ चाहते या कहते हो, वैसा ही करूँगा। इस सत्यवती के गर्भ से जो पुत्र पैदा होगा, वही हमारा राजा बनेगा' ॥८७॥

इत्युक्तः पुनरेवाथ तं दाशः प्रत्यभाषत ।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म राज्यार्थे भरतर्षभ ॥८८॥

भरतवंशावतंस जनमेजय ! देवव्रत के ऐसा कहने पर निषाद उनसे फिर बोला । वह राज्य के लिए उनसे कोई दुष्कर प्रतिज्ञा कराना चाहता था ॥८८॥

त्वमेव नाथः सम्प्रातः शान्तनोरमितद्युते ।
कन्यायाश्चैव धर्मात्मन् प्रभुर्दानाय चेश्वरः ॥८९॥

उसने कहा–अमित तेजस्वी युवराज ! आप ही महाराज शान्तनु की ओर से मालिक बनकर यहाँ आये हैं । धर्मात्मन् ! इस कन्या पर भी आपका पूरा अधिकार है । आप जिसे चाहें, इसे दे सकते

हैं । आप सब कुछ करने में समर्थ हैं ॥८९॥

इदं तु वचनं सौम्य कार्यं चैव निबोध मे ।
कौमारिकाणां शीलेन वक्ष्याम्यहमरिन्दम ॥९०॥

'परन्तु सौम्य ! इस विषय में मुझे आप से कुछ और कहना है और वह आवश्यक कार्य है; अतः आप मेरे इस कथन को सुनिये ! शत्रुदमन ! कन्याओं के प्रति स्नेह रखने वाले सगे-सम्बन्धियों का जैसा स्वभाव होता है, उसी से प्रेरित होकर मैं आप से कुछ निवेदन करूँगा ॥९०॥

यत् त्वया सत्यवत्यर्थे सत्यधर्मपरायण ।
राजमध्ये प्रतिज्ञातमनुरूपं तवैव तत् ॥९१॥

सत्यधर्मपरायण राजकुमार ! आपने सत्यवती के हित के लिए इन राजाओं के बीच में जो प्रतिज्ञा की है, वह आपके ही योग्य है ॥९१॥

नान्यथा तन्महाबाहो संशयोऽत्र न कश्चन ।
तवापत्यं भवेद् यत् तु तत्र नः संशयो महान् ॥९२॥

'महाबाहो ! वह टल नहीं सकती; उसके विषय में मुझे कोई सन्देह नहीं है, परन्तु आपका जो पुत्र होगा, वह शायद इस प्रतिज्ञा पर दृढ़ न रहे, यही हमारे मन में बड़ा भारी संशय है' ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यैतन्मतमाज्ञाय सत्यधर्मपरायणः ।
प्रत्यजानात् तदा राजन् पितुः प्रियचिकीर्षया ॥९३॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—राजन् ! निषादराज के इस अभिप्राय को समझकर सत्यधर्म में तत्पर रहने वाले कुमार देवव्रत ने उस समय पिता के प्रिय करने की इच्छा से यह कठोर प्रतिज्ञा की ॥९३॥

गाङ्गेय उवाच

दाशराज निबोधेदं वचनं मे नरोत्तम ।
(ऋषयो वाथवा देवा भूतान्यन्तर्हितानि च ।
यानि यानीह शृण्वन्तु नास्ति वक्ता हि मत्समः ॥
इदं वचनमादत्स्व सत्येन मम जल्पतः ।)
शृण्वतां भूमिपालानां यद् ब्रवीमि पितुः कृते ॥९४॥

भीष्म ने कहा—नरश्रेष्ठ निषादराज ! मेरी यह बात सुनो । जो-जो ऋषि, देवता एवम् अन्तरिक्ष के प्राणी यहाँ हों, वे सब भी सुनें । मेरे समान वचन देनेवाला दूसरा नहीं है । निषाद ! मैं सत्य कहता हूँ, पिता के हित के लिए सब भूमिपालों के सुनते हुए मैं जो कुछ कहता हूँ, मेरी इस बात को समझो ॥९४॥

राज्यं तावत् पूर्वमेव मया त्यक्तं नराधिपाः ।
अपत्यहेतोरपि च करिष्येऽद्य विनिश्चयम् ॥९५॥

राजाओ ! राज्य तो मैंने पहले ही छोड़ दिया है; अब सन्तान के लिए भी अटल निश्चय कर रहा हूँ ॥९५॥

अद्य प्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति ।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ॥९६॥

निषादराज ! **आज से मेरा आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत चलता रहेगा । मेरे पुत्र न होने पर भी स्वर्ग में मुझे अक्षय लोक प्राप्त होंगे** ॥९६॥

(न हि जन्मप्रभृत्युक्तं मम किञ्चिदिहानृतम् ।
यावत् प्राणा ध्रियन्ते वै मम देहं समाश्रिताः ॥
तावन्न जनयिष्यामि पित्रे कन्यां प्रयच्छ मे ।
परित्यजाम्यहं राज्यं मैथुनं चापि सर्वशः ॥
ऊर्ध्वरेता भविष्यामि दाश सत्यं ब्रवीमि ते ।)

मैंने जन्म से लेकर अब तक कोई झूठ बात नहीं कही है। जब तक मेरे शरीर में प्राण रहेंगे, तब तक मैं सन्तान नहीं उत्पन्न करूँगा। तुम पिता जी के लिए अपनी कन्या दे दो। दाश ! मैं राज्य तथा मैथुन का सर्वथा परित्याग करूँगा और ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होकर रहूँगा—यह मैं तुम से सत्य कहता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
ददानीत्येव तं दाशो धर्मात्मा प्रत्यभाषत ॥९७॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—देवव्रत का यह वचन सुन कर धर्मात्मा निषादराज के रोंगटे खड़े हो गये। उसने तुरन्त उत्तर दिया—'मैं यह कन्या आपके पिता के लिए अवश्य देता हूँ' ॥

ततोऽन्तरिक्षेऽप्सरसो देवाः सर्षिगणास्तदा।
अभ्यवर्षन्त कुसुमैर्भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥९८॥

उस समय अन्तरिक्ष में अप्सरा, देवता तथा ऋषिगण फूलों की वर्षा करने लगे और बोल उठे—'**ये भयंकर प्रतिज्ञा करने वाले राजकुमार भीष्म हैं** (अर्थात् भीष्म के नाम से इनकी ख्याति होगी)' ॥९८॥

ततः स पितुरर्थाय तामुवाच यशस्विनीम्।
अधिरोह रथं मातर्गच्छावः स्वगृहानिति ॥९९॥

तत्पश्चात् भीष्म पिता के मनोरथ की सिद्धि के लिए उस यशस्विनी निषादकन्या से बोले—'माता जी ! इस रथ पर बैठिये। अब हम लोग अपने घर चलें' ॥९९॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भीष्मस्तां रथमारोप्य भामिनीम्।
आगम्य हास्तिनपुरं शान्तनोः संन्यवेदयत् ॥१००॥

वैशम्पायन जी कहते हैं–जनमेजय ! ऐसा कहकर भीष्म ने उस भामिनी को रथ पर बैठा लिया और हस्तिनापुर आकर उसे महाराज शान्तनु को सौंप दिया ॥१००॥

तस्य तद् दुष्करं कर्म प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
समेताश्च पृथक् चैव भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥१०१॥

उनके इस दुष्कर कर्म की सब राजा लोग एकत्र होकर और अलग-अलग भी प्रशंसा करने लगे । सब ने एक स्वर से कहा, 'यह राजकुमार वास्तव में भीष्म है' ॥१०१॥

तच्छ्रुत्वा दुष्करं कर्म कृतं भीष्मेण शान्तनुः ।
स्वच्छन्दमरणं तुष्टो ददौ तस्मै महात्मने ॥१०२॥

भीष्म के द्वारा किये हुए उस दुष्कर कर्म की बात सुनकर **राजा शान्तनु बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उन महात्मा भीष्म को स्वच्छन्द मृत्यु का वरदान दिया** ॥१०२॥

ब्रह्मचारी भीष्म द्वारा सम्पन्न शान्तनु तथा सत्यवती के इस अनमेल विवाह से किस को सुख मिला । शान्तनु से सत्यवती को दो पुत्र प्राप्त हुए–चित्रांगद तथा विचित्रवीर्य । वृद्ध शान्तनु कुछ ही दिनों बाद दिवंगत हो गये । चित्रांगद एक द्वन्द्व युद्ध में मारा गया, अब भीष्म को विचित्रवीर्य के विवाह की चिन्ता हुई, उन्हें पता चला कि काशीराज की तीन कन्याओं का स्वयंवर होने जा रहा है उन्होंने धनुष उठाया और रथ पर सवार होकर काशी जा पहुंचे । वह स्वयं वर स्थल पर भावी जीवन के सुख का स्वप्न संजोये, हाथों में वरमाला पकड़े तीनों कन्याओं को भीष्म अपने धनुष के बल पर बलपूर्वक अपहरण करके हस्तिनापुर ला कर उन्हें माता सत्यवती को सौंप दिया। सब से बड़ी अम्बा ने सत्यवती को बताया कि, मैं पहले ही शाल्वराज का वरण कर चुकी हूं । शाल्वराज भी मुझे स्वीकार कर चुके हैं, स्वयंवर में मैंने उन्हीं को वरण करना था, दया करके मुझे जाने

दें। सत्यवती ने उसके अनुनय विनय को मानकर उसे मुक्त कर दिया, किन्तु जब वह शाल्वराज के पास पहुंची तो उसने अम्बा को ग्रहण करने से इन्कार कर दिया। पौराणिक गाथा के अनुसार अम्बा अनेक जन्मों में भटकती हुई अन्त में शिखण्डी के रूप में जन्म लेकर भीष्म की मृत्यु का कारण बनी। अम्बिका और अम्बालिका का विवाह चिचित्रवीर्य के साथ कर दिया गया दोनों पत्नियों के साथ निरन्तर भोगविलास में लिप्त रहने के कारण सात वर्ष में राजयक्ष्मा का रोगी हो कर अल्पायु में ही स्वर्ग सिधार गया। इस प्रकार हस्तिनापुर का राजमहल तीन विधवाओं--सत्यवती, अम्बिका तथा अम्बालिका का आश्रय-स्थल बनकर रह गया।

सत्यवती ने नियोग द्वारा अम्बिका तथा अम्बालिका से सन्तानोत्पत्ति करने का निश्चय किया। इसके लिए अपने सब से बड़े सुपुत्र व्यास को नियत किया, व्यास अन्यथा सर्वगुण-सम्पन्न होते हुए भी एक अत्यन्त कुरूप पुरुष थे। रात्रि को जब व्यास नियोग के लिए अम्बिका के पास पहुंचे तो उसने डर के मारे अपनी आँखें मीच लीं। ऐसी अवस्था में नियोग के द्वारा अम्बिका से उत्पन्न धृतराष्ट्र अन्धा पैदा हुआ। अगली रात जब व्यास अम्बालिका के पास पहुंचे तो वह डर के मारे पीली पड़ गई। उस अवस्था में उत्पन्न पाण्डु पाण्डु रोग से ग्रस्त हुए, धृतराष्ट्र से उत्पन्न दुर्योधन आदि कौरव कहलाये, और पाण्डु से उत्पन्न युधिष्ठिर आदि पाण्डव नाम से पुकारे गये। धृतराष्ट्र और पाण्डु से उत्पन्न सन्तान आरम्भ से ही एक दूसरे के प्रति विरोधी भाव से पलती और बढ़ती चली गयी।

कालान्तर में जुए के द्वारा राज्य के बंटवारे की स्थिति आ गई। एक बार जुआ खेलते समय यह शर्त निर्धारित हुई कि इस में जो जीतेगा वह राज्य का अधिकारी होगा, दूसरा बारह वर्ष के लिए बनवास तथा एक वर्ष के लिए अज्ञातवास में रहेगा। धृतराष्ट्र, भीष्म,

द्रोण आदि सभी चाहते थे कि जुआ न खेला जाय। किन्तु दुर्योधन ने किसी की नहीं मानी। धृतराष्ट्र भी सन्तान के मोह में ग्रस्त होकर शिथिल पड़ गये। शकुनि की जुआ खेलने में कुशलता तथा कूटनीतिक चालों के कारण युधिष्ठिर को अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। दुर्योधन, दुःशासन तथा कर्ण की तिकड़ी दुष्टता की मूर्ति थी और युधिष्ठिर आदि पाण्डव मूर्खता तथा कायरता के शिकार थे। दुर्योधन आदि ने पाण्डवों के पराजित हो जाने के कारण उनकी प्रत्येक वस्तु पर अपना अधिकार जताया और इन्हीं वस्तुओं में उन्होंने द्रौपदी को भी शामिल माना और उसे अपनी दासी के रूप में घोषित कर दिया। पाण्डवों को हर प्रकार से अपमानित करने की दृष्टि से रजस्वला की स्थिति में भी केशों से खींचकर अनेक निकृष्ट और घृणित शब्दों का प्रयोग करते हुए द्रौपदी को लाया गया। एक विदुर को छोड़कर चीखती चिल्लाती द्रौपदी को उस दशा में सब चुपचाप देखते रहे। पाण्डव जुए में हार जाने के कारण अपने आपको सत्त्वहीन मानते हुए चुप रहे तो भीष्म सदा अर्थस्य पुरुषो दासः की भावना से पराभूत होकर अपनी पौत्रवधू को खुले आम अर्धनग्न अवस्था में देखते रहे। भीष्म की तलवार काशीराज की कन्याओं के अपहरण में तो चमकी, किन्तु द्रौपदी पर आततायियों के आक्रमण के समय म्यान में पड़ी रही।

चीरहरण की घटना के कुछ समय पश्चात् श्रीकृष्ण बनवास में दिन बिता रहे पाण्डवों के पास पहुंचे। श्रीकृष्ण को देखते ही द्रौपदी रो रोकर अपनी व्यथा-कथा सुनाने लगी, तत्पश्चात् वह श्रीकृष्ण को जली कटी सुनाते हुए बार-बार कहने लगी—अब आये हो, जब मैं आततायियों से घिरी सहायता के लिए चीत्कार कर रही थी तब नहीं आये। श्रीकृष्ण अपना स्पष्टीकरण देना चाहते थे किन्तु द्रौपदी इसके लिए उन्हें अवसर ही नहीं दे रही थी, बड़ी देर के बाद जब वह कुछ

शान्त हुई तो श्रीकृष्ण बोले–जिस दिन यह घटना घटी उस दिन मैं हस्तिनापुर में नहीं था, बहुत दूर युद्ध में फंसा हुआ था। यदि मैं उस समय वहां होता तो जुआ होने ही नहीं देता। पहले मैं उन्हें जुए के दोष समझाता। यदि वे न समझते तो मैं उन सब को मार डालता। भरी सभा में जब दुर्योधन आदि द्रौपदी पर अत्याचार कर रहे थे तो भीष्म की एक आवाज उन्हें भगा देती। यदि वे ऐसा न करते तो भीष्म को चाहिए था कि वे दुर्योधन, दुःशासन तथा कर्ण–का तुरन्त वध कर देते और उनके शेष साथियों को सदा के लिए कारावास में डाल देते। किन्तु ऐसा कुछ भी न करके देखते रहे।

हस्तिनापुर के निकटस्थ किसी नर्सिंगहोम में घायल अवस्था में मृत्यु की प्रतीक्षा में लेटे भीष्म ने श्रीकृष्ण से कहा–

मैंने दुर्बुद्धि एवं मन्द दुर्योधन से कहा था–'जहां श्रीकृष्ण हैं वहां धर्म है। जहां धर्म है, उसी पक्ष की जय होगी। इसलिए बेटा दुर्योधन! तुम भगवान् श्रीकृष्ण की सहायता से पाण्डवों के साथ सन्धि कर लो। सन्धि के लिए यह बहुत उत्तम अवसर आया है। इस प्रकार बार-बार कहने पर भी उस मन्दबुद्धि मूढ़ ने मेरी बात नहीं मानी और सारी पृथ्वी के वीरों का नाश कराके अन्त में वह स्वयं भी काल के गाल में चला गया। (महा० अनु० पर्व)

यहां भीष्म श्रीकृष्ण से दुर्योधन की इस बात के लिए निन्दा कर रहे हैं कि उसने पाण्डवों से सन्धिविषयक उनके सुझाव को नहीं माना था। इसके उत्तर में श्रीकृष्ण कह सकते थे कि जब सन्धि वार्ता के लिए बुलायी गई कौरव सभा में मैंने इस आशय का प्रस्ताव रखा था तो आपने भी, जिस प्रकार उसका समर्थन किया जाना चाहिये था उस प्रकार नहीं किया था। उस दिन मैंने अपने मानापमान की परवाह किये बिना अनाहूत स्वयं पहुंच कर उस सभा में धृतराष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कहा था–

"इस समय भारतवर्ष में आपका कुल श्रेष्ठ है। इसमें विद्या है, शील है, दयालुता है, सरलता है, सत्य है। वृद्ध होने से इस कुल के आधार आप हैं परन्तु आपकी सन्तान बिगड़ रही है। उन्होंने धर्म, अर्थ दोनों छोड़ रक्खे हैं। मर्यादा में न रहकर वे अपने भाइयों से ही क्रूरता का व्यवहार कर रहे हैं। इसका परिणाम वह घोर आपत्ति है जो इस कुल पर आने वाली है। यदि इसका प्रतिबन्ध न हुआ तो संसार का क्षय हो जायेगा। आप चाहें तो इसे रोक सकते हैं। इस समय भारत का भाग्य एक आपके अधीन है, दूसरे मेरे। आप कौरवों को रोकिए, मैं पाण्डवों को रोक दूंगा। यदि आज आप पाण्डवों को अपने पक्ष में कर लें तो संसार में आपको जीतनेवाला कोई न रहेगा। पाण्डव बड़ी शक्ति हैं और वह शक्ति आपकी हो सकती है। और जो युद्ध हो ही गया तो राजा सभी देशों के आये हुए हैं। वे लड़ेंगे और सारी प्रजाओं का नाश कर देंगे। महाराज ! इन निरपराध प्रजाओं का वास्ता ! इन्हें बचाइये। विमल आचार के निष्कलङ्क आर्य लोग आपस में लड़-लड़ कर मर जायँगे। इन्हें बचाइए। कौरवों- पाण्डवों में सन्धि हो जाये तो सभी राजा लोग इकट्ठे खा-पी तथा मङ्गल मनाकर अपनी-अपनी राजधानियों को लौट जायें। पाण्डव तो बचपन से ही आपके पास पले हैं। वही वात्सल्य-दृष्टि उनमें फिर रखिए। पाण्डवों ने आपको अभिवादन कर यह कहा है—'हम ने द्यूत की शर्त पूरी कर दी। बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास का घोर व्रत पूरा कर दिया। अब आपको अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहिए। हमारी आप में पितृ-बुद्धि है। आप हम में पुत्रबुद्धि रखिए।' आपकी सभा में कई वृद्ध आप्त पुरुष विद्यमान हैं। उनके रहते यहां सत्य का लोप नहीं हो सकता। यदि मेरा विचार धर्म और अर्थ का विरोधी नहीं तो आप इसका अनुसरण कीजिए। युधिष्ठिर

के धैर्य को देखिये कि प्राप्त किये साम्राज्य को, एक बार स्वीकार किये नियम के लिए झट त्याग दिया। द्रौपदी के अपमान को सह गया। आप अब उनसे वह व्यवहार कीजिए जो क्षत्रियों की आन के अनुकूल हो। मृत्यु के मुख में दौड़ी जा रही प्रजा की रक्षा आपके हाथ में है।

(श्रीकृष्ण की वक्तृता का उत्तर किसी को क्या देना था[1] ? इसमें कुल के नाम से भी अपील थी। धृतराष्ट्र के पितृ-भाव से भी अभ्यर्थना थी। लोक-क्षय का चित्र भी खींच दिया गया था। सन्धि से धर्म के साथ स्वार्थ की सिद्धि भी दर्शा दी गयी थी। हलके शब्दों में कौरवों के छल तथा द्रौपदी के सभा में लाए जाने की अश्लील अशिष्टता की ओर भी संकेत कर दिया गया था। दूसरे शब्दों में श्रीकृष्ण ने अनुनय भी की, प्रलोभन भी दिखाया, लजाया भी। धृतराष्ट्र पर इस वक्तृता का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। उसने दुर्योधन को बीसियों गालियां दे दीं और कह दिया कि यही पापी नहीं मानता। भीष्म समझा चुके, विदुर समझा चुके, गान्धारी ने प्रयत्न कर लिये, पर यह किसी की सुने भी।

श्रीकृष्ण ने अब दुर्योधन को सम्बोधित कर अत्यन्त मधुर शब्दों में कहा—

"भाई! जब पैदा एक महान् कुल में हुए हो, विद्या प्राप्त की है, शूर हो, फिर शील क्यों कुलहीनों का-सा दिखाते हो? अपने भाइयों से व्यर्थ का वैर और परायों के सहारे इतना गर्व? अपने सारे मित्रों में कोई अर्जुन और भीम-सा बली दिखाओ तो सही। अच्छा,

१. तस्मिन्नभिहिते वाक्ये केशवेन महात्मना।
स्तिमिता हृष्टरोमाण आसन् सर्वे सभासदः ॥१॥
कश्चिदुत्तरमेतेषां वक्तुं नोत्सहते पुमान्।
इति सर्वे मनोभिस्ते चिन्तयन्ति स्म पार्थिवाः॥ उद्योग० ९४।२॥

युद्ध हो ही गया। उसका परिणाम ? कुल का नाश। तुम्हें सभी कुलघ्न कहेंगे। सन्धि कर लो। धृतराष्ट्र राजा रहें और तुम युवराज[1]। क्यों ? है स्वीकार ?"

इस पर भीष्म, विदुर, द्रोण सब ने समझाया परन्तु दुर्योधन ने एक न सुनी। उसने कहा—"जब तक धृतराष्ट्र स्वयं राज्य करते थे, मैंने हथियार डाल रखे थे परन्तु जब इन्होंने राज्य मुझे दे दिया, चाहे अज्ञान से चाहे भय से तो अब तो मेरी ही चलेगी। मैं सुई की नोक भर भूमि भी पाण्डवों को न दूंगा। उन्होंने राज्य जुए में हारा है। इसमें हमारा अपराध क्या ? अब वे अशक्त पुरुषों की तरह समर्थों पर वृथा क्रोध झाड़ रहे हैं।")

अब तक श्रीकृष्ण ने दबे-दबे शब्दों में उलाहने दिये थे। दुर्योधन के इस कथन ने उन्हें खुला बोलने का अवसर दे दिया।) उन्होंने उसे भीम को विष देने, लाख का घर बनवाने और उसमें पाण्डवों को डाल उसे आग लगा देने का मनसूबा बांधने की घटनाएं स्मरण

---

१. महाप्राज्ञकुले जातः साध्वेतत् कर्तुमर्हसि।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नः सर्वैः समुदितो गुणैः॥९॥
दौष्कुलेया दुरात्मानो नृशंसनिरपत्रपाः।
त एतदीदृशं कुर्युर्यथा त्वं तात मन्यसे॥ उद्योग० १२३।६०॥
त्वामेव स्थापयिष्यन्ति यौवराज्ये महारथाः॥ १२३।६१॥
महाराज्येऽपि पितरं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्॥ उद्योग० १२३।६२॥
यावच्च राजा ध्रियते धृतराष्ट्रो जनार्दन।
न्यस्तशस्त्रा वयं ते वाप्युपजीवाम माधव॥२३॥
अप्रदेयं पुरा दत्तं राज्यं परवतो मम।
अज्ञानाद्वा भयाद्वापि मयि बाले जनार्दन॥२४॥
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति॥ उद्योग०१२६।२६॥

कराईं। फिर पूछा, क्या ये अपराध नहीं ? जुए की निन्दा की और कहा–"इस दुष्कर्म के लिए निमन्त्रण ही महान् अपराध है। फिर उसमें छल करना और हारे हुए भाइयों को दास बनाना, यही नहीं, भावज को भरी सभा में बुलाना और उससे न कहने की एक नहीं, बीसियों बातें कह डालना–क्या ये सब काम भले मानसों के थे ?"

(कृष्ण ने दुर्योधन से स्पष्ट कह दिया–"अब तो लड़ाई होकर रहेगी। सो तैयार हो जा। तुझे होश तब आयेगा जब शत्रु की शूरता तुझे रणभूमि में सुला देगी। शान्ति अच्छी थी, तू उसे ठुकरा रहा है[1]।")

(श्रीकृष्ण की यह भर्त्सना सुन दुर्योधन सभा से उठ गया।) इस पर श्रीकृष्ण ने अपने कुल का उदाहरण देकर कहा–"हमारे यहाँ कंस ऐसा ही कुलांगार था। हमने सारे कुल की रक्षा के लिए उस एक दुराचारी को मार डाला। यही उपाय दुर्योधन का करना उचित है। (इसे दुःशासन, कर्ण, और शकुनि-सहित पाण्डवों के हवाले कर देना चाहिए। क्या इस एक के लिए सारे क्षत्रिय-वंश का नाश कर दिया जायेगा[2] ?"

(धृतराष्ट्र ने विदुर को भेजकर गान्धारी को बुलवाया और उससे दुर्योधन को समझवाना चाहा परन्तु उस हठी ने माँ की बात पर ध्यान ही न दिया।)

भीष्म जी ! यदि उस दिन मेरे भाषण के अन्त में आप यह कहते कि, दुर्योधन माता-पिता गुरु आदि किसी की भी बात मानने

---

१. **स्थितो भव महामात्यो विमर्दो भविता महान् ॥ १२६।२॥**

२. **तथा दुर्योधनं कर्णं शकुनिञ्चापि सौबलम् ।**
बद्ध्वा दुःशासनं चापि पाण्डवेभ्यः प्रयच्छत ॥
उद्योग० १२६।४७॥

तत् कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभाः ॥५०॥

के लिए तैयार नहीं है, और श्रीकृष्ण का भाषण सुनने के पश्चात् मुझे विश्वास हो गया है कि पाण्डवों का पक्ष पूरी तरह न्याय युक्त है ऐसी स्थिति में परिवार में सब से बड़ा होने के नाते मैं यह आदेश देता हूं कि कौरव कुल का कोई भी सदस्य दुर्योधन का साथ न दे । जहां तक मेरा सम्बन्ध हैं, मैं घोषणा करता हूं कि 'मैं' दुर्योधन का साथ छोड़कर पाण्डवों के पक्ष में युधिष्ठिर की ओर से लड़ूंगा । आपके बिना दुर्योधन युद्ध में कदापि नहीं उतरता और इस प्रकार यह राष्ट्र युद्ध की त्रासदी से मुक्त हो जाता परन्तु समय पर आपने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया । इस प्रकार इस युद्ध के लिए दुर्योधन की अपेक्षा स्वयम् आप अधिक जिम्मेदार हैं ।

शान्ति पर्व में भीष्म जी का उपदेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । परन्तु इस विषय में हम गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में यही कह सकते हैं—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे ।
ये आचरहिं ते नर न घनेरे ॥

अर्थस्य पुरुषो दासः

३० जनवरी १९४८ को सांयकाल ५ बजे दिल्ली में गोलीमार कर गांधी जी की हत्या कर दी गयी । हत्या के समाचार के साथ ही यह भी प्रचारित हो गया कि गांधी जी की हत्या संघ (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) ने की है । अहमदाबाद के सरसपुर क्षेत्र में एक आर्यसमाज मन्दिर है । इसके बाहर एक बोर्ड टंगा हुआ था जिस पर आर्य वीर संघ लिखा हुआ था । गांधी जी की हत्या के समाचार से क्रुद्ध भीड़ ने 'आर्य' देखा न 'वीर' देखा केवल संघ शब्द देखा और आर्यसमाज मन्दिर को आग लगा दी । इस समाचार के दिल्ली

पहुंचने पर आर्यसमाज के शिरोमणि संगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्कालीन प्रधान श्री मदनमोहन सेठ (रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट एवं सैशन जज इलाहाबाद) ने इस काण्ड की जांच करने के लिए हमें अहमदाबाद भेजा। रात्रि को पुलिस कमिश्नर के बंगले पर उनसे हमारी बातचीत हुई। हमने उनसे कहा–

पुलिस कमिश्नर के रूप में आपने जो कुछ किया हमें उसके विस्तार में जाने का यह अवसर नहीं है। किन्तु आखिर conscience भी तो कोई चीज है। इस पर कमिश्नर साहब ने ड्राईंग रूम में एक खूंटी पर टंगी अपनी पेटी की ओर संकेत करते हुए कहा–"इस समय मेरी conscience मेरे पास है और मेरी पेटी खूंटी पर टंगी है। प्रातःकाल जब मैं ड्यूटी पर जाऊंगा तब मैं पेटी पहन लूंगा और उसके स्थान पर अपनी consience टांग दूंगा। मैं सरकारी नौकर हूं इसलिए सरकार के आदेशों का पालन करना मेरा कर्तव्य है। हम समझते हैं कि, कमिश्नर का यह उत्तर भीष्म के 'अर्थस्य पुरुषो दासः' की ही व्याख्या है। स्पष्ट है कि, भीष्म का उत्तर अहमदाबाद के पुलिस के कमिश्नर के स्तर का था! किन्तु भीष्म का व्यक्तित्व अहमदाबाद के कमिश्नर से कहीं ऊंचा था।

* * *

ब्रह्मविद् शंकर

आस्तिकवाद

जो है, उसे मानने वाला आस्तिक कहाता है इसके विपरीत, जो है उसे न मानने वाला और जो नहीं है उसे मानने वाला नास्तिक कहाता है। आस्तिकवाद का समग्रता में एकत्र वर्णन करने वाला ऋग्वेद (१।१६४।२०) का यह मन्त्र है—

त्रिवाद का मूल

वैदिक त्रिवाद का मूल ऋग्वेद का यह प्रसिद्ध मन्त्र है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति ॥

—ऋ० १।६४।२०

जैसे (सुपर्णा) सुन्दर पंखोंवाले, (सयुजा) परस्पर सहयोगी तथा (सखाया) मित्रों के समान वर्तमान (द्वा) दो पक्षी, (समानम्) एक ही (वृक्षम्) वृक्ष का (परिषस्वजाते) आश्रय करते हैं, (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक (पिप्पलं) उस वृक्ष के पके हुए फल को (स्वादु) आनन्दपूर्वक (अत्ति) खाता है, और (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभिचाकशीति) सब ओर से देखता है, वैसे ही (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से परस्पर सम्बन्ध रखनेवाले (सखाया) मित्रों के समान वर्त्तमान जीवात्मा और परमात्मा (समानं वृक्षम्) एक ही नश्वर देह का (परिषस्वजाते) आश्रय करते हैं,

(तयोः) उनमें से (अन्यः) एक=जीव पाप-पुण्य से उत्पन्न सुख-दुःखात्मक (पिप्पलं) भोग को (स्वादु अत्ति) आनन्दपूर्वक खाता है और (अन्यः) दूसरा=परमात्मा कर्मफल को (अनश्नन्) न भोगते हुए उस भोक्ता जीव को (अभिचाकशीति) सब ओर से साक्षी के समान देखता रहता है।

यह मन्त्र अथर्ववेद (९।९।२०) में, मुण्डक० (३।१।१) और श्वेता० (४।६) में भी आया है।

जीवेश्वर-प्रतिपादक इस मन्त्र में वृक्ष के रूप में प्रकृति का पाप-पुण्यरूप फलों का भोग करने वाले के रूप में जीव का और केवल साक्षिरूप में ईश्वर का कथन करके जीव का ईश्वर से, ईश्वर का जीव से और इन दोनों का प्रकृति से भिन्न होना प्रतिपादित है।

शंकराचार्य ने वेद का भाष्य नहीं किया, और किया भी हो तो वह उपलब्ध नहीं है। पर वेद के प्रति उनकी आस्था अक्षुण्ण है। **'शास्त्रयोनित्वात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।३) के अपने भाष्य में शंकराचार्य लिखते हैं–**"महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेक-विद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति।"**

अर्थात्–अनेक विद्यास्थानों से उपकृत दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाशन करने में समर्थ और सर्वज्ञ के समान महान् ऋग्वेदादिशास्त्र का योनि (कारण) ब्रह्म है। ऐसे ऋग्वेदादिरूप सर्वगुणान्वित शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ को छोड़कर अन्य किसी से सम्भव नहीं।

वेद के प्रति ऐसा आस्थावान् आचार्य वैदिक मान्यताओं का विरोधी कैसे हो सकता था? मुण्डकोपनिषद् में आये उक्त वेदमन्त्र के भाष्य में शंकराचार्य 'सयुजौ सदैव सर्वदा युक्तौ (सखायौ)

समानाख्यौ आत्मेश्वरौ' लिखकर ईश्वर के समान ही जीव का अनादित्व स्वीकार करते हैं । आगे कहते हैं– "**(तयोः) परिष्वक्तयोः (अन्यः) एकः (पिप्पलं) कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं (स्वाद्वत्ति) स्वादु भक्षयति । (अन्यः) इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्त्वोपाधिरीश्वरः (अनश्नन्) न अश्नाति । प्रेरयिता ह्यसौ उभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्व-सत्तामात्रेण च (अभिचाकशीति) पश्यत्येव केवलम् ।**"

इस प्रकार इस मन्त्र के भाष्य में शंकराचार्य ने भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति और दोनों के द्रष्टा एवं प्रेरक ईश्वर, तीनों की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन किया है–'आत्मेश्वरौ' इस समस्त पद में 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' का स्पष्ट निषेध है । शंकर द्वारा यत्र-तत्र-अनेकत्र प्रयुक्त लिङ्गोपाधि, मायोपाधि, अविद्योपाधि आदि पदों का न कहीं मन्त्र में संकेत है, न उसके शांकर भाष्य में ।

सायणाचार्य के पूर्ववर्त्ती स्वामी आत्मानन्द इस (वेदमन्त्र) का भाष्य करते हुए लिखते हैं– "**द्वौ अभ्युदयनिःश्रेयसपक्षान् बिभ्रतौ जीवपरमात्मानौ तयोर्मध्ये एकः जीवः (पिप्पलं) बहुदोषयुक्तमपि कर्मफलं स्वादु कृत्वा (अत्ति स्वादिति । (अन्यः) परः परमात्मा (अनश्नन्) अभुञ्जानोऽपि अभितः अत्यर्थं प्रकाशते ।**

शांकर मत का मुख्य आधार उनका ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तदर्शन का भाष्य है और उनके भाष्य की भित्ति उपनिषद् हैं । इसलिए वे पदे-पदे अपने कथन की पुष्टि में उपनिषदों के सन्दर्भ उद्धृत करते चलते हैं । उपनिषदों की महत्ता उनकी सार्वभौमता में है । उनका जीवन-दर्शन एक सार्वभौम धर्म के, स्वरूप का प्रतिपादन करता है । संसार के सभी मत-मतान्तर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य को उस परब्रह्म की ओर प्रेरित करते हैं जो इस समस्त चराचर जगत् का मूलाधार है, किन्तु चाहनेमात्र से सब-कुछ नहीं हो

जाता । गन्तव्य पर पहुँचने के लिए उचित मार्ग का अवलम्बन भी उतना ही आवश्यक है और इस मार्ग का पता वही दे सकता है जो स्वयं वहाँ तक 'पहुँचा हुआ' हो । उपनिषदों के ऋषियों ने जो दिशा-निर्देश किया है वह कहीं पढ़-सुनकर नहीं, अपितु स्वयं साक्षात्कार करके किया है ।

वेदान्तसूत्र तथा भगवद्गीता बादरायण व्यास की रचनाएँ हैं, जबकि उपनिषदें समय-समय पर हुए अनेकानेक ऋषियों की अनुभूतियों का संकलन हैं । आचार्य शंकर का मन्तव्य इन ग्रन्थों पर किये गये उनके भाष्यों में खोजा जा सकता है । किन्तु, जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर आये हैं, वह वेद के विपरीत नहीं हो सकता। यदि कहीं ऐसा प्रतीत होता है तो या तो वह प्रक्षिप्त है या वह नास्तिकों के विरुद्ध जल्परूप है । शंकर के नाम से प्रतिपादित अद्वैतवाद वैदिक मान्यता के सर्वथा विपरीत है ।

यहाँ हम प्रस्थानत्रयी में से आचार्य शंकर की मान्यताओं को उद्धृत कर यह सिद्ध करने जा रहे हैं कि मूलतः शंकर द्वैतवादी थे । नास्तिकवाद का प्रत्याख्यान करने के लिए ही उन्हें अद्वैत के जल्प का अश्रय लेना पड़ा था । वह उनका निजी मत नहीं था । शंकराचार्य ने अपने जीवनकाल में चार दिशाओं में चार मठों की स्थापना की थी—ज्योतिर्मठ, शारदा मठ, शृंगेरी मठ, तथा गोवर्द्धन पीठ । कांची काम-कोटि पीठ की एक मठ के रूप में विधिवत् स्थापना आचार्य ने कभी नहीं की । जीवन के अन्तिम दिनों में कामाक्षी देवी के प्रति अप्रतिम निष्ठा होने के कारण वे कांची पहुँच गये । अनेक वर्षों तक शिष्यों एवं भक्तजनों के साथ निवास के कारण वहाँ एक संस्थान स्थापित हो गया । धीरे-धीरे वह जनमानस का श्रद्धास्थल और कालान्तर में मूर्तिपूजा का केन्द्र बन गया । पर शंकराचार्य मूलतः मूर्तिपूजक नहीं थे, यह उनकी 'परा-पूजा' से स्पष्टतः सिद्ध है ।

'परापूजा' में मूर्तिपूजा के खण्डन में दी गई शंकराचार्य की युक्तियों को पढ़ते समय ऐसा लगता है, जैसा हम ऋषि दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश का ग्यारहवाँ समुल्लास पढ़ रहे हों। शंकर लिखते हैं–

पूर्णस्याऽऽवाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम् ।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च शुद्धस्याचमनं कुतः ॥२॥
निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च ।
अगोत्रस्य त्ववर्णस्य कुतस्तस्योपवीतकम् ॥३॥
निर्लेपस्य कुतो गन्धः पुष्पं निर्वासनस्य च ।
निर्विशेषस्य का भूषा कोऽलङ्कारो निराकृतेः ॥४॥

जो सर्वव्यापक होने से सर्वत्र विद्यमान है, उसका आवाहन (अथवा विसर्जन) कैसे किया जा सकता है ? जो सर्वाधार होने से सब का आश्रय है, उसको बैठने के लिए आसन की क्या आवश्यकता है ? नित्य स्वच्छ-पवित्र को पैर धोने के लिए पाद्य, मुँह धोने के लिए अर्घ्य और नित्य शुद्ध को आचमन करने के लिए जल कैसे दिया जा सकता है ?

जो सदा निर्मल है उसका स्नान से क्या प्रयोजन ? जिसके उदर में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाया हुआ है, उसे वस्त्र कैसे पहनायेंगे ? जो गोत्र और वर्ण से रहित है, उसे यज्ञोपवीत कैसे पहनायेंगे ?

आज उन्हीं जगद्गुरु शंकराचार्य के उत्तराधिकारी एवं तदनुयायी भक्तजन 'हम तो डूबेंगे सनम तुम को भी ले डूबेंगे' को चरितार्थ करते हुए आकण्ठ मूर्तिपूजा में डूबे हैं ।

कालान्तर में जब शंकर मूर्तिपूजा में प्रवृत्त हो गये तो उन्होंने पैंतरा बदला और कहने लगे–

अखण्डे सच्चिदानन्दे निर्विकल्पैकरूपिणि ।
स्थितेऽद्वितीयभावेऽस्मिन् कथं पूजा विधीयते ॥

जो अखण्ड, सच्चिदानन्द, एकमात्र, निर्विकल्परूप और

अद्वैतरूप में विद्यमान है, उसकी पूजा कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। पूजा के लिए तो द्वैतभाव (पूज्य-पूजक दो का होना) अनिवार्य है।

वस्तुतः परापूजा में शंकराचार्य ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट कर दिया। सब से पहले उन्होंने ब्रह्म (ईश्वर) को 'अखण्ड' बताया। ईश्वर एक सम्पूर्ण तत्त्व है। जब यह कहा जाता है कि जीव ब्रह्म का अंश है तो इसका अर्थ यह होता है कि एक समय था जब हम सब एक थे–ब्रह्म थे। कालान्तर में हम उससे पृथक् होकर उसके अंश होकर-टुकड़े-टुकड़े होकर रह गये। प्रकारान्तर से इसका अर्थ है कि ब्रह्म एक सावयव पदार्थ था। कालान्तर में उसका विघटन हो गया और वह टुकड़े-टुकड़े होकर संसार-भर में बिखर गया। जब ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं थी तो यह विघटन किसने किया ? और यदि उसने आत्महत्या की और स्वयम् अपने टुकड़े कर डाले तो प्रश्न होता है कि उसने कब, क्यों ऐसा किया ? ब्रह्म अखण्ड होने से अच्छेद्य है, इस से उसके अंश नहीं हो सकते, इसलिए शंकराचार्य ने कहा–जीवात्मा निरपेक्ष ब्रह्म का अंश–सम्पूर्ण इकाई में से काटा हुआ भाग नहीं हो सकता। 'जीव सर्वोपरि सत्ता का अंश है' का इतना ही तात्पर्य है कि जीव अंश-जैसा है, क्योंकि निरवयव ब्रह्म का वास्तविक अंश नहीं हो सकता–**"अंश इवांशो, न ही निरवयवस्य मुख्योऽशः सम्भवति।"**

(ब्रह्मसूत्रभाष्य २।३।४३)

यदि जीव खण्डित ईश्वर का अंश होता तो उसमें अंशी ईश्वर के सभी गुण पाये जाते। समष्टि के सभी गुण तत्त्वतः व्यष्टि में विद्यमान रहते हैं। खारी समुद्र की एक-एक बूँद खारी होगी और चीनी का एक-एक दाना अनिवार्यतः मीठा और नमक का एक-एक दाना नमकीन होगा। इस प्रकार अंशी परमात्मा के सभी गुण उसके अंश

जीवों में होने चाहिए थे। ऐसा न होने से जीव को परमेश्वर का अंश नहीं माना जा सकता। इसीलिए शंकर ने ईश्वर को अखण्ड कहा है। आगे (ब्र० सू० २।३।४६) शंकरभाष्य में लिखा है– **"यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवमीश्वरोऽनुभवति।"**–जैसे जीव संसार के दुःखों को अनुभव करता है, वैसे ईश्वर नहीं करता। तब जीव और ईश्वर में अंशांशिभाव कैसे रह सकता है? वस्तुतः एक आत्मा दूसरी आत्मा का अंश नहीं हो सकता। ईश्वर सदा से अखण्ड है और आगे भी सदा रहेगा।

सच्चिदानन्द=सत्+चित्+आनन्द। 'अस् भुवि' धातु से 'सत्' शब्द सिद्ध होता है। 'यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत् सत्', अर्थात् जो सदा वर्त्तमान रहे–तीनों कालों में जिसका बाध न हो उसे 'सत्' कहते हैं। ऐसी वस्तु अपनी सत्ता के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि किसी कारण से उत्पन्न पदार्थ त्रिकालवर्ती अर्थात् नित्य नहीं हो सकता। इसलिए जो अनादि–अनुत्पन्न और इस कारण अविनाशी हैं, वे ही नित्य हैं। ऐसे पदार्थ तीन हैं–ईश्वर, जीव और प्रकृति। 'चिती संज्ञाने' इस धातु से 'चित्' शब्द निष्पन्न होता है–'यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति' अर्थात् जो चेतनस्वरूप है, वह 'चित्' है। ऐसे दो पदार्थ हैं–जीवात्मा और परमात्मा। 'टुनदि समृद्धौ' इस धातु से 'आनन्द' शब्द सिद्ध होता है। 'आनन्दः स्वरूपमस्येति आनन्दः', अर्थात् जो आनन्दस्वरूप, वह आनन्द है। ऐसा पदार्थ केवल एक है–ईश्वर। ईश्वर ही है आनन्दस्वरूप, अन्य कोई नहीं–ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में इसका विस्तार से उल्लेख हुआ है। इस प्रकार जो सत्स्वरूप होने से 'सत्' चित्स्वरूप होने से 'चित्' और आनन्दस्वरूप होने से आनन्द, और तीनों को एकत्र करने से सच्चिदानन्द है, वह ईश्वर है। प्रकृति 'सत्' है, जीवात्मा और परमात्मा 'सच्चित्' हैं और केवल परमात्मा 'सच्चिदानन्द' है।

'सच्चित्' होने से जीवात्मा का आसन मात्र 'सत् प्रकृति' से ऊँचा है, किन्तु 'सच्चिदानन्द' परमात्मा से नीचा है। परमात्मा की ओर बढ़ने से जीवात्मा का उत्थान या उत्कर्ष है, प्रकृति में लिप्त होने में उसका पतन या अपकर्ष है। ईश्वरोन्मुख होकर प्रकृति का समुचित एवं मर्यादित उपयोग करना मध्यम मार्ग है। 'स्व' प्रकृति का 'स्वामी' और परमात्मा का 'सेवक' बनकर रहने में उसका कल्याण है।

अद्वितीयभावे–जो अद्वितीयभाव से वर्तमान है, अर्थात् जिसमें द्वैतभाव नहीं है, उसकी पूजा कदापि सम्भव नहीं, अर्थात् पूजा द्वैतभाव होने पर ही सम्भव है। उपासना करनेवाले आराधक और उपास्य विषय (आराध्य) के बीच जो सम्बन्ध है, वह इस बात का संकेत करता है कि दोनों में भेद है। भक्ति परमात्मा में आस्था और प्रेम का नाम है। नारद ने उसे प्रेमरूपा कहा है। शाण्डिल्य के अनुसार वह परमेश्वर के प्रति प्रेम की पराकाष्ठा है–'सा परानुरुक्तिरीश्वरे'। योगशास्त्र में इसे 'ईश्वर-प्रणिधान' के नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार उपासक और उपास्य में द्वैत अनिवार्य है। वस्तुतः ईश्वर के प्रति आस्था और मुक्ति के लिए तीन का होना अनिवार्य है–जीवात्मा जो मुक्त होना चाहता है, प्रकृति का बन्धन जिस से वह मुक्त होना चाहता है और परमात्मा जिसके अनुग्रह से वह बन्धन से मुक्त हो सकता है। इसलिए अद्वैत का प्रतिपादन करनेवालों को स्वीकार करना पड़ा– **'पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे'** अर्थात् यथार्थ में अद्वैत होते हुए भी भक्ति के लिए द्वैत अनिवार्य है।

जीवात्मा और परमात्मा में अभेद, अद्वैत अनन्यत्व होने पर 'भक्ति' शब्द ही निरर्थक हो जाता है। एक ही व्यक्ति उपासक और उपास्य कैसे हो सकता है ? कौन किसकी उपासना करेगा ? स्वयम् अपने मुँह से अपनी स्तुति करना अथवा ब्रह्म का ब्रह्म (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) की स्तुति करना क्या हास्यास्पद नहीं होगा ? बन्धन से मुक्ति

पाने के लिए मैं किसकी शरण में जाऊँ, क्योंकि ब्रह्म तो अविद्योपाधि से ग्रस्त होकर मेरे रूप में, बन्धन में आ गया–'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति', अन्य कोई है ही नहीं । इसलिए ज्ञानमार्गी होते हुए भी शंकराचार्य भक्ति की आवश्यकता एवम् उपादेयता और तदर्थ द्वैत की सत्ता का निषेध कैसे कर सकते थे ? ईशोपनिषत् के स्वरचित भाष्य में १५वें मन्त्र की व्याख्या में 'सत्यधर्माय' की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है–'सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात् सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यम्' अर्थात् तुझ सत्यस्वरूप की उपासना से मैं भी सत्यनिष्ठ हो गया हूँ ।

वस्तुतस्तु दो के बिना भक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। जब तक उपासक को अपनी तुच्छता की और अपने उपास्य की महत्ता की अनुभूति न हो, तब तक भक्ति-भावना जाग्रत् नहीं हो सकती। मध्वाचार्य के मत में परमेश्वर के प्रति प्रेम का अनवरत प्रवाह भक्ति है–'ध्यानं च इतरतिरस्कारपूर्वकभगवद्विषयकाखण्डस्मृतिः ।' (मध्यसिद्धान्तसार ५।२) अर्थात् समस्त पदार्थों से चित्त को हटाकर निरन्तर ईश्वर के चिन्तन में प्रवृत्त रहना भक्ति है । मध्व ने यहाँ प्रकारान्तर से तीनों सत्ताओं को स्पष्ट स्वीकार किया है–चिन्तक या उपासक (जीव), चिन्तन का विषय (ब्रह्म) तथा इतर समस्त पदार्थ (जगद्रूप प्रकृति) जिनसे चित्त को हटाना है ।

इस प्रसंग में सन्त तुकाराम के ये वाक्य बड़े सटीक हैं–

तुका ह्मणे आम्ही असोनिया जाण ।
तुज देवपण आणियेने ।
आम्ही नाहीं तरी तुज कोण हे पुसले ।
तुकाराम यां चे अभङ्ग ॥

तुकाराम का कहना है–हे परमात्मदेव ! तुम यह समझ लो कि हम आत्माएँ हैं, इसीलिए तुम परमात्मा कहाते हो । यदि हम

(जीवात्माएँ) न होते तो तुम्हें कौन पूछता ?

एकमात्र तत्त्व विविध रूप में परिणत होता है—ऐसा दृष्टान्त संसार में उपलब्ध नहीं है। ऐसा माननेवाले आचार्य भी अपनी बात को पूरी तरह नहीं निभा सके। प्रकृति नाम से उन्हें चिढ़ (Allergy) थी, क्योंकि यह उनके मत (शून्यवाद) में बाधक बनती थी, परन्तु उसके बिना उनका काम भी नहीं चलता था। अन्ततोगत्वा उन्हें माया की कल्पना करनी पड़ी। प्रकृति से ब्रह्म का पीछा छूटा तो उसके साथ माया लग गई। नाममात्र का अन्तर पड़ा, क्योंकि प्रकृति के सभी गुण माया में हैं। वह विविधरूपा है, इसलिए जगत् उसका विकार व परिणाम है। जगत्सर्ग के लिए ब्रह्म से अतिरिक्त प्रकृति अथवा माया के उपादानत्व को कोई हटा नहीं पाया।

१३— **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्,**
एको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ —श्वेता० ६।१३

शांकरभाष्य—नित्यो नित्यानां जीवानां मध्ये। अथवा पृथिव्यादीनां मध्ये। तथा चेतनश्चेतनानां प्रमातृणां मध्ये। एको बहूनां जीवानां यो विदधाति भोगान्। सर्वस्य योगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं ज्योतिर्मयं मुच्यते सर्वपाशैरविद्यादिभिः।

भाषार्थ—नित्य जीवों के मध्य जो नित्य है, अथवा पृथिवी आदि नित्यों में जो नित्य है, जो अकेला ही बहुत से जीवों के भोगों का विधान करता है और सांख्ययोग द्वारा सब के लिए ज्ञातव्य है, उस प्रकाशस्वरूप को जानकर (मनुष्य) सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

इस सन्दर्भ में बहुवचनान्त 'नित्यानाम्' पद से स्पष्ट है कि

नित्य पदार्थ कम से कम तीन अवश्य हैं । ये ईश्वर, जीव और प्रकृति हैं । सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद से शून्य होने से ईश्वर तो एक ही है । तीनों के नित्य होने पर भी प्रकृति के परिणामी होने तथा जीव के जन्म-मरण के बन्धन में होने के कारण अपनी विशेषता के कारण परमात्मा को 'नित्यो नित्यानाम्'-नित्यों में नित्य कहा गया है । 'चेतनानाम्' पद के भी बहुवचनान्त होने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि चेतन तत्त्व भी अनेक हैं जिनमें एक परमात्मा है । 'बहुत से जीवों' के भोगों का विधान होने से जीवों का परमात्म से भिन्न होने के साथ-साथ उनका अनेक होना भी प्रमाणित होता है । नित्य होने से जीवात्माओं के ईश्वर के अंश होने का भी निषेध हो जाता है, क्योंकि नित्य एवं निरवयव होने से परमेश्वर के अंश नहीं हो सकते।

१४– भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च त्रिविधं ब्रह्ममेतत् । –श्वेता० १।१२

शंकरभाष्य–भोक्ता जीवो भोग्यमितरत्सर्वं प्रेरितान्तर्यामी परमेश्वरः। तदेतत्त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मैति ।

भाषार्थ–जीव भोक्ता है, भोक्ता और अन्तर्यामी से अतिरिक्त और सब भोग्य है तथा अन्तर्यामी परमेश्वर प्रेरित है–यह तीन प्रकार से कहा हुआ ब्रह्म ही है ।

वेदादि शास्त्रों में 'ब्रह्म' पद ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का वाचक है । वेद में 'ज्येष्ठ'-पूर्वक ब्रह्म पद ईश्वर का वाचक है, 'इदं'-पूर्वक जीव का तथा 'महत्-पूर्वक प्रकृति का । इस प्रकार ब्रह्म अर्थात् महानता के तीन रूप हैं । स्थल–प्रकरण के अनुसार अर्थ का निर्धारण होता है । उपनिषत् के प्रस्तुत प्रसंग में वह भोक्ता के रूप में जीव का, भोग्य के रूप में प्रकृति का तथा प्रेरिता के रूप में परमात्मा का वाचक होने से त्रिविध है ।

१६–समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

–श्वेता० ४।७

शांकरभाष्य–समाने वृक्षे शरीरे पुरुषो भोक्ताविद्याकाम-कर्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव समुद्रजले निमग्नो निश्चयेन देहात्मभावमापन्नः दीनभावोऽनीशा तया शोचति सन्तप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थप्रकारैरविवेकतया विचित्रतामापद्यमानः । यदा केनचित्परमकारुणिकेन दर्शितयोगमार्गोऽसंसारिणमशनायाद्य-संस्पृष्टं सर्वान्तरमन्यं परमात्मानमीशमस्य महिमानं विभूतिञ्च पश्यति तदा वीतशोको भवति । सर्वस्माच्छोकसागराद्विमुच्यते कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ।

भाषार्थ–एक ही वृक्ष अर्थात् शरीर में भोक्ता जीव अविद्या, काम, कर्मफल और रागादि के भारी भार से आक्रान्त हो समुद्र के जल में डूबे हुए तूँबे के समान देहात्मभाव को प्राप्त हुआ, दीनभाव से अनीशा=असमर्थता की स्थिति को प्राप्त हुआ शोक अर्थात् सन्ताप करता है । जब कभी कोई परम कृपालु आचार्य उसे योगमार्ग का उपदेश कर देते हैं तब वह संसार धर्मशून्य, क्षुधादि से असंस्पृष्ट, सर्वान्तर्यामी ईश्वर और उसकी महिमा=विभूति को देखता है तब वह शोकरहित हो जाता है, अर्थात् शोकसागर से मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है ।

यदि जीव वास्तव में ब्रह्म या ब्रह्म का ही रूप होता तो शंकराचार्य ब्रह्म के निर्विकार होने से किसी भी अवस्था में मोह, अज्ञान आदि से ग्रस्त होने और आनन्दस्वरूप होने के कारण उसके शोकग्रस्त होने की कल्पना कैसे कर सकते थे ? मन्त्र में 'मुह्यमानः पुरुषः' तथा 'अन्यमीशम्' पदों के प्रयुक्त होने से जीवेश्वर का भेद स्पष्ट

है । वृक्ष के रूप में जड़ प्रकृति विद्यमान है । आचार्य ने अपने भाष्य में तीनों अनादि तत्त्वों की पृथक् सत्ता को स्वीकार किया है ।

१७–ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ॥

–श्वेता० १।९

शांकरभाष्य–ज्ञाज्ञौ द्वाविति । ज्ञाज्ञौ द्वौ ज्ञ ईश्वरोऽज्ञो जीवस्तावजौ जन्मादिरहितौ । सर्वेशः परमेश्वरः अनीशो जीवः, सर्वज्ञः परमेश्वरः असर्वज्ञो जीवः, सर्वकृत्परमेश्वरः असर्वकृज्जीवः, सर्वभूत्परमेश्वरः देहादिभृज्जीवः, सर्वात्मा परमेश्वरः असर्वात्मा जीवः, विश्वैश्वर्य आप्तकामः परमेश्वरः, अल्पैश्वर्योऽनाप्तकामो जीवः, 'सर्वतः पाणि०' (श्वेता० ३।६), 'सहस्रशीर्षा' (श्वेता० ३।१४), 'नित्यो-नित्यानाम्' (श्वेता० ६।१३) इत्यादिना जीवेश्वर-योर्विलक्षण-व्यवहारसिद्धिः स्यात् । न तु भोक्त्रादिप्रपञ्चसिद्धिरस्ति स्वतः कूटस्थापरिणाम्यद्वितीयस्य वस्तुनोऽभोक्त्रादिरूपत्वात् । नापि परतरो ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य भोक्त्रादिप्रपञ्चहेतुभूतस्य वस्त्वन्तरस्या-भावात् । वस्त्वन्तरसद्भावेऽद्वैतहानिरित्याशङ्क्याह–'अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्तेति। भवेदयमीश्वराद्यविभागः यदि प्रपञ्चासिद्धिरेव स्यात् । सिध्यत्येव प्रपञ्चः । हि यस्मादर्थे । यस्मादजा प्रकृतिर्न जायत अत्यजा सिद्धा प्रसवधर्मिणी ।

भाषार्थ–'ज्ञ' और 'अज्ञ' दो हैं । ईश्वर ज्ञ (सर्वज्ञ) है और जीव अज्ञ (अल्पज्ञ) है । वे दोनों ही अज–जन्मादिरहित हैं । परमेश्वर सर्वेश्वर है, जीव अनीश्वर है । परमेश्वर सर्वज्ञ है, जीव असर्वज्ञ है । परमेश्वर सब-कुछ करनेवाला है, जीव कुछ भी नहीं कर सकता । परमेश्वर सब का पोषण करनेवाला है, जीव देहादि का ही पोषक है । परमेश्वर सब का आत्मा है, जीव सब का आत्मा नहीं है । परमेश्वर सर्वैश्वर्यसम्पन्न और पूर्णकाम है, जीव अल्पैश्वर्यवान्

और पूर्णकाम नहीं है। और 'उस (परमेश्वर) के सब ओर हाथ हैं', 'वह सहस्त्र शिरोंवाला है', 'वह नित्यों का नित्य है' इत्यादि वाक्यों से जीव और ईश्वर में भेद की सिद्धि हो सकती है। किन्तु भोक्ता आदि प्रपञ्च की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि कूटस्थ, अपरिणामी, अद्वितीय वस्तु अभोक्तादिरूप है तथा परतः(किसी अन्य से) भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त प्रपञ्च की हेतुभूत किसी अन्य वस्तु की सत्ता ही नहीं है। कारण, किसी अन्य वस्तु की सत्ता स्वीकार करने पर तो अद्वैत की हानि होगी। ऐसी शंका होने पर श्रुति कहती है—भोक्ता के भोग्य-सम्पादन में एकमात्र अजा (प्रकृति) ही नियुक्त है। यदि प्रपञ्च न होता तो ईश्वरादि का विभाग सम्भव न होता। किन्तु प्रपञ्च तो सिद्ध (प्रत्यक्ष) है। मूल में 'हि' शब्द 'क्योंकि' के अर्थ में प्रयुक्त है। क्योंकि अजा—प्रकृति, जो उत्पन्न न होने के कारण अजा है, प्रसवधर्मिणी सिद्ध है।

इस प्रकार यहाँ 'ज्ञ' से परमात्मा का, 'अज्ञ' से जीवात्मा का और 'अजा' से प्रकृति का ग्रहण होने से इस मन्त्र में त्रिवाद का प्रतिपादन किया गया है।

१८—ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

—ईश० १

शांकरभाष्य—ईशा ईष्ट इतीट् तेनेशा इदं सर्वं यत्किञ्च यत्किञ्चिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं चराचरमाच्छादनीयम्। एवमीश्वरेण त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः भुञ्जीथा। एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः गृधि माकाङ्क्षां मा कार्षीः।

भाषार्थ—संसार में जो कुछ भी चराचर वस्तु है, वह सब ईश्वर से आच्छादित है। उसका त्यागपूर्वक उपभोग करो, उसका लोभ

मत करो ।

इस मन्त्र में आच्छादक और आच्छाद्य के रूप में परमेश्वर और जगत् का उल्लेख हुआ है । आच्छादक और आच्छाद्य अथवा व्यापक और व्याप्य एक नहीं हो सकते । लोक में चेतन की समस्त प्रवृत्तियाँ प्रयोजन से युक्त देखी जाती हैं । प्रयोजन अपना और पराया दो प्रकार का होता है । जगत् की रचना में ईश्वर का अपना कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि वह आप्तकाम है । यह जगत् जीव के भोग और अपवर्ग के लिए है । यदि जगद्रचना से पूर्व उसका भोक्ता जीव न होता तो परमेश्वर किस के लिए जगद्रचना करता ? फिर 'त्यक्तेन भुञ्जीथा' तथा 'मा गृधः' जैसे विधि तथा निषेधपरक वाक्य भी किसी चेतन परन्तु अल्पज्ञ सत्ता को लक्ष्य करके ही कहे जा सकते हैं । इस प्रकार वेदमूलक तथा समस्त उपनिषदों की आधार ईशोपनिषद के इस प्रथम मन्त्र में शंकराचार्य ने ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों की पृथक् किन्तु समसामयिक सत्ता को स्वीकार किया है ।

१९–अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

–ईशो० १८

शांकरभाष्य–हे अग्ने ! नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण राये धनाय कर्मफलभोगायेत्यर्थः । अस्मान्यथोक्तधर्मफलविशिष्टान् विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वान् जानन्। किञ्च युयोधि विनाशय अस्मदस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकमेनः पापम् । भूयिष्ठां बहुतरां तु तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कारवचनं विधेम ।

भाषार्थ–हे परमेश्वर ! हमें कर्मफलरूपी धन की प्राप्त्यर्थ सन्मार्ग से ले चलिए । आप हमारे सब कर्मों के जाननेवाले हैं, अतः हमारे कुटिल पाप को हटा दीजिए । हम आपको अतिशय भक्तिभाव

से बार-बार नमन करते हैं ।

इस मन्त्र के भाष्य में आचार्य ने नमस्य और नमस्कर्त्ता का, उपास्य और उपासक का अर्थात् प्रार्थ्य तथा प्रार्थयिता का अनेक प्रकार से पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है । प्रार्थयिता पापी है, प्रार्थनीय पापों को जाननेवाला और दूर करने वाला है । परमेश्वर क्लेशकर्मविपाकाशय से अपरामृष्ट है, जबकि प्रार्थयिता जीव उनमें बुरी तरह लिप्त है । एक जीवात्मा कर्मफल-भोक्ता है जबकि दूसरा परमेश्वर उसके भोग की व्यवस्था करनेवाला है । एक ले चलनेवाला पथ-प्रदर्शक है, दूसरा तदनुयायी है । इस प्रकार यहाँ ईश्वर और जीव में द्वैधभाव स्पष्ट है।

उपनिषदों में जीव-ब्रह्म की अभेद-भावना के संकेत अनेकत्र उपलब्ध हैं, किन्तु वे लौकिक प्रयोगों की भाँति ब्रह्म की अतिशय महत्ता को अथवा ब्रह्मानन्द में लीन जीवात्मा के भावातिरेक को प्रकट करते हैं। काव्यात्मक अभिव्यक्ति की लहर में औपचारिकता से कथित वाक्यों को यथायथ ग्रहण कर ऐसे सन्दर्भों से आपाततः प्रतीयमान अर्थों को मानकर ही मध्यकालीन आचार्यों ने अद्वैतवाद का विशाल भवन खड़ा किया है, किन्तु ज्यों ही उन शब्दों के भीतर छिपी आत्मा का दर्शन होता है, त्यों ही वह भवन धराशायी हो जाता है । समय-समय पर विद्वानों द्वारा उपनिषदों पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं । इन में सबसे पुरानी टीका शंकराचार्य की है ।

शंकराचार्य को बौद्ध मन्तव्यों का निराकरण अभीष्ट था । उन्होंने अपना समस्त जीवन बौद्धमत के प्रत्याख्यान में लगाया । बौद्धदर्शन ब्रह्म की सत्ता को नकारता है, जबकि ब्रह्मसूत्रों में मुख्यरूप से उसी का प्रतिपादन है । बौद्धमत के प्रत्याख्यान के लिए ब्रह्मसूत्र का आधार उपयुक्त था । इसलिए भविष्यत् में अपनी मान्यताओं के प्रचार को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ब्रह्मसूत्रों को आधार बनाकर तदनुकूल व्याख्या अपेक्षित थी । भारतीय परम्परा के अनुसार ब्रह्मसूत्रों

के रचयिता द्वापर के अन्त में होनेवाले वेदव्यास हैं। आचार्य शंकर ने इन सूत्रों के आधार पर जिस रूप में बौद्ध जैन दर्शन का प्रत्याख्यान किया है, वह वेदव्यास के काल के बहुत बाद विकसित हुआ। इसलिए वेदव्यास का अपने सूत्रों में उस रूप में उनका प्रत्याख्यान करना उपपन्न नहीं होता। जब यह निश्चित होता है कि ये सूत्र बौद्ध-दर्शन के विकास से बहुत पहले विद्यमान थे तो स्पष्ट हो जाता है कि तात्कालिक भावनाओं से अभिभूत होकर अपने काल में व्यवस्थित बौद्धदर्शन के विशिष्ट वादों का सूत्रों के आधार पर प्रत्याख्यान करने की दृष्टि से किया गया सूत्रार्थ ब्रह्मसूत्रकार को अभिमत नहीं था। शंकराचार्य की इस प्रवृत्ति में स्वमत-पोषण तथा परमत-निराकरण की भावना प्रबल थी। इस परिप्रेक्ष्य में कतिपय सूत्रों पर प्राचीन वैदिक मान्यताओं की दृष्टि से विचार करना उचित होगा।

महाभारत और उसके अन्तर्गत गीता तथा ब्रह्मसूत्रों के रचयिता वेदव्यास हैं और इन दोनों ग्रन्थों का आधार उपनिषद् हैं, यह भी निर्विवाद है। साथ ही समस्त उपनिषद्, ईशोपनिषत् का विस्तार होने से वेदमूलक हैं। ऐसी अवस्था में वेद, उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्रों में पूर्ण सामञ्जस्य होना चाहिए।

***

शंकर का अद्वैतवाद

भारत की वैचारिक परम्परा में दर्शन व धर्म एक-दूसरे के पूरक हैं। दर्शन की नींव पर ही धर्म का भवन खड़ा किया जाता है। 'दृष्टि' (दृशिर्) धातु से दर्शन शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है–'दृश्यते ज्ञायते सत्यमनेनेति दर्शनम्।' अर्थात् जिससे सत्य को जाना जा सके उस ऊहापोहरूपी सन्नियत विचार-शृंखला को 'दर्शन' कहते हैं। इस दार्शनिक सत्य का धारण करना–उसका जीवन में कार्यान्वित होना 'धर्म' है। दर्शन का सम्बन्ध विचार से है, धर्म का आचार से। इस प्रकार दर्शन का प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक रूप धर्म है। दर्शन व धर्म के इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ही हमारे यहाँ वेद, उपनिषद्, गीता आदि दार्शनिक ग्रन्थ भी हैं और धार्मिक भी।

महर्षि कणाद ने धर्म का लक्षण इस प्रकार किया है–'जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि हो वह धर्म है।'[१] हमारी संहिताएँ, उपनिषदें तथा दर्शनशास्त्र जगत् को व्यवहार-जगत् और परमार्थ-जगत् के रूप में विभक्त करना स्वीकार नहीं करते। दोनों में यथार्थ एवं समन्वय-बुद्धि होना सम्यक् दर्शन है। अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है।[२] 'अभ्युदय' का प्रसिद्ध अर्थ ऐहिक सुख अर्थात् वर्तमान जीवन में भौतिक साधनों द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य है। भविष्यत् का आधार वर्तमान है। मरने के बाद क्या होगा?

---

१. **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।** (वै० १।१)
२. **तत्त्वज्ञानावभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः।** (अ० त० द० १।१)

इसके जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि हम जीवित कैसे रह सकते हैं ? स्थूल को जानने पर ही सूक्ष्म के प्रति जिज्ञासा एवं प्रवृत्ति जागृत होती है और जानने की क्षमता प्राप्त होती है, अतः जन्मान्तर की चिन्ता करने से पहले वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं को जुटाना आवश्यक है । मोक्षप्राप्ति में साधन-रूप शरीर तथा 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।' की उपेक्षा नहीं की जा सकती । तत्त्वज्ञान अर्थात् विज्ञान की सहायता से भौतिक तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जानकर ही ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा के उपकरणों की उपलब्धि एवम् उनका समुचित उपयोग सम्भव है । द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य ज्ञान से अभ्युदय की सिद्धि का यही अर्थ है ।

अभ्युदय के साथ-साथ द्रव्यादि पदार्थों का ज्ञान निःश्रेयस् की सिद्धि में भी उपयोगी है । यह ठीक है कि द्रव्यादि पदार्थ हमारी सुख-सुविधाओं के जनक हैं, परन्तु अपने स्वरूप में वे 'श्वोभावाः' क्षणभंगुर अर्थात् नश्वर हैं । पदार्थों की इस वास्तविकता को समझ लेने के पश्चात् विवेकी पुरुष आत्मवित् हो जाता है, अर्थात् अपने शाश्वत स्वरूप को पहचानने लगता है । द्रव्यादि जड़ पदार्थ परिणामी एवं नश्वर हैं; एक आत्मतत्त्व ही इनसे भिन्न अविनाशी तत्त्व है—ऐसा जानकर वह देह और उसकी वासनाओं में लिप्त न होकर जन्म-जन्मान्तर के आवर्तमान चक्र से निकलने की सोचने लगता है। यही ज्ञान आत्मा को निःश्रेयस् के मार्ग में प्रवृत्त करता है । अभ्युदय और निःश्रेयस् में टकराव होने पर वह **'परोक्षप्रिया हि देवाः ।'** के अनुसार निःश्रेयस् को चुन लेता है । इसी रूप में तत्त्वज्ञान निःश्रेयस् की सिद्धि में साधक है ।

इन्द्रियाँ बाह्य जगत् का ज्ञान करानेवाले अधिकरण हैं, किन्तु उनकी सीमा गुणों तक है । द्रव्यों की यथार्थता का दर्शन कराने में

वे अंशतः सफल होती हैं। किन्तु सधी हुई योगबुद्धि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाती है। साधारण बुद्धि के सामने आनेवाला ज्ञान बाहरी आवरण-मात्र होता है। जिसे भेदकर सूक्ष्मैक्षिका दार्शनिक बुद्धि तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का दर्शन कर पाती है। इसलिए परमाणु से परमेश्वर-पर्यन्त समस्त पदार्थों के यथार्थज्ञान-साधन में प्रवृत्त रहना उसका परम पुरुषार्थ है।

चमत्कारों में विश्वास रखनेवाला अथवा ऐन्द्रजालिक प्रदर्शनों में रुचि लेनेवाला व्यक्ति ही संसार को किसी मायावी की लीला मान सकता है। सृष्टि के रंगमंच पर किसी के हाथ की कठपुतली बनकर नाचनेवाले हम नहीं हैं। हमारे जीवन का कोई लक्ष्य है, किसी अदृश्य शक्ति से प्रेरणा पाकर हमें कुछ बनना है। संसार को स्वप्न या मिथ्या समझनेवाले व्यक्ति के लिए तत्त्वज्ञान का कोई अर्थ नहीं। किन्तु मनुष्य सृष्टि के प्रारम्भ से ही तत्त्वदर्शी रहा है। यदि वह संसार को मिथ्या, स्वप्न या अध्यास मानता रहता तो वह अपने सर्वतोन्मुखी ज्ञान की अभिवृद्धि न कर पाता। सृष्टि में अभिव्यक्त ऋत और सत्य को जानकर मनुष्य अभ्युदय तथा निःश्रेयस् को प्राप्त करता है। साधारणतः धर्मविषयक जिज्ञासा चित्त को ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा के लिए तैयार करती है। ऐसे व्यक्ति जो सीधे ब्रह्म-जिज्ञासा में तत्पर हो जाते हैं, वे हैं जिन्होंने पूर्वजन्म में अपेक्षित कर्तव्यों का पालन किया होता है।

कार्योत्पत्ति के लिए कारण-सामग्री का नियतपूर्ववर्ती होना आवश्यक है। दृश्य जगत् कार्यरूप है, अतः जगत् के मूल कारण अथवा तत्त्व की खोज में दार्शनिकों की रुचि सदा से रही है। वह मूलतत्त्व क्या है जिसका यह सारा जगत् रूपान्तरमात्र है? दृश्यमान जगत् में हम चेतन तथा अचेतन दोनों प्रकार की सत्ताओं का अनुभव करते हैं। एक विचार- धारा के अनुसार जगत् का एकमात्र मूल तत्त्व

अचेतन है। अवस्थाविशेष में आकर वही विकसित होकर चैतन्य में परिवर्तित हो जाता है। चेतन नाम की पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता रखने वाली कोई वस्तु नहीं है। भारतीय दर्शन में यह विचारधारा उसके संस्थापक बृहस्पति तथा उसके महान् प्रचारक चार्वाक के नाम से प्रसिद्ध है। भारतीय विचारधारा से प्रभावित प्राचीन यूनानी दर्शन को छोड़कर, पश्चिम का सम्पूर्ण दर्शन, जो हेगेल तथा कार्लमार्क्स जैसे भौतिक तत्त्वज्ञों के सहारे आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के रूप में विकसित हुआ है, इसी विचारधारा का पोषक है। सर्वथा समान न होते हुए भी चार्वाक तथा वर्तमान पाश्चात्य दर्शन मूलतः एक है।

दूसरी विचारधारा के अनुसार एकमात्र यथार्थ सत्ता चेतनब्रह्म है। उससे भिन्न अन्य कोई तत्त्व अपना अस्तित्व नहीं रखता यह जो जड़ व चेतन जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, उसकी अपनी वास्तविक व स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। एकमात्र ब्रह्म-तत्त्व ही विभिन्न रूपों में भासता है। इस विचारधारा को पल्लवित व पुष्पित करने का श्रेय आचार्य शंकर को है। उन्होंने कुछ प्राचीन ग्रन्थों को इसका आधार बनाया और इसी के अनुकूल उनकी व्याख्या की। इनमें वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र), ११ उपनिषद् और गीता विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

तीसरी विचारधारा के अनुसार चेतन व अचेतन दोनों प्रकार के तत्त्वों की वास्तविक सत्ता है और दोनों के सहयोग से ही सृष्टि-रचना का कार्य सम्भव है। चेतन तत्त्व दो हैं–जीवात्मा और परमात्मा। अचेतन तत्त्व प्रकृति अथवा प्रधान के नाम से जाना जाता है। यह वैदिक विचारधारा है जिसका निर्देश एवं संकेत वेद के अनेक सूक्तों व मन्त्रों में उपलब्ध होता है। इन विचारों को दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्राचीन काल में महर्षि कपिल को और चिरकाल से तिरोहित इस विचारधारा को वर्तमान में प्रवहमान करने का श्रेय

महर्षि दयानन्द को है ।

सांख्याचार्य वार्षगण्य ने सृष्टि-रचना में ईश्वर को अनावश्यक मानकर उसे निकाल फेंका। बुद्ध ने वैदिक परम्परा के नाम पर होनेवाले भ्रष्टाचार के विरुद्ध विद्रोह किया। उनके उपदेशों में ईश्वर के निषेध परक कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलते, परन्तु कालान्तर में उनके शिष्यों ने वार्षगण्य तथा चार्वाक के विचारों से प्रभावित होकर बौद्ध मन्तव्यों में से उसे निकाल दिया। जब यह नास्तिक विचारधारा अति को पार कर गई तो इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। फलतः जब जगन्नियन्ता परमात्मा से विमुख होकर जनता को भ्रष्ट होने का भय उपस्थित हुआ तो कुछ विद्वानों ने घोषणा कर दी कि न केवल चेतन सत्ता अथवा परमात्मा का निषेध करना सम्भव नहीं, अपितु यथार्थ सत्ता एकमात्र ब्रह्म ही है। शेष सब अज्ञान या भ्रम है। इन विद्वानों ने बौद्धधर्म की बाह्य प्रक्रिया को तो ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया, परन्तु 'शून्य' के आसन पर ब्रह्म को बिठा दिया। इसी विचारधारा को आगे चलकर गौड़पाद और शंकराचार्य ने पुष्ट किया।

बौद्धमत में विज्ञानवादी एवं शून्यवादी अद्वैतमत के प्रतिपादक थे। जैनमत में भी समन्तभद्र ने अद्वैतमत का उल्लेख किया है।[१] परन्तु इन सभी अद्वैतमतों में कुछ न कुछ भेद है। भेद होना स्वाभाविक है, क्योंकि सब आचार्यों का एक ही दृष्टिकोण नहीं हो सकता। शंकर के दादागुरु गौड़पाद थे। अपनी माण्डूक्य-कारिकाओं में उन्होंने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। लोक-विश्रुत अद्वैतमत का प्रवर्त्तक उन्हीं को माना जाता है। अद्वैतवाद के बौद्धरूप का प्रभाव गौड़पाद की कारिकाओं में स्पष्ट है। शंकराचार्य भी उस प्रभाव से अछूते नहीं रहे। गौड़पाद के मत में आत्मा न सत् है, न असत् है, न सत्-असत्

---

१. **अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो विरुद्ध्यते ।** (आप्तमीमांसा २४)

उभयात्मक है और न सत्–असत् से विलक्षण है। इस प्रकार की आत्मा का ज़िन्होंने दर्शन किया है वे ही सर्वदृक् अर्थात् सर्वदर्शी हैं ।[१] यही बात बहुत पहले बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका में कही थी ।[२] इसके अतिरिक्त बहुत से दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्द हैं जिनका बौद्धदर्शन तथा शांकरमत दोनों में एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है। दोनों मतों ने व्यावहारिक सत्ता से भिन्न परमार्थिक सत्ता को स्वीकार किया है, अतएव पारमार्थिक दृष्टि से जब ये दोनों परमतत्त्व का विचार करते हैं तो उसमें अनेक प्रकार की समानताओं का पाया जाना स्वाभाविक है। इन भावनाओं से प्रभावित होकर कुछ विद्वानों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध तक कह डाला ।[३]

इसके विपरीत दूसरे विद्वानों का कहना है कि शंकर उपनिषदों के पूर्ण ज्ञाता थे । दार्शनिक तत्त्वों की अनुभूति उन्हें अवश्य रही होगी । ब्रह्मसूत्र में उपनिषदों की ही शिक्षा का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया गया है। उपनिषदों में अद्वैतमत की प्रतीति करानेवाली अनेक श्रुतियाँ थीं और उनके विशेष अध्ययन से उपनिषदों में अद्वैतवाद की ही मुख्य विचारधारा प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है । उसी के

---

१. **नास्ति नास्त्यस्ति नास्त्यस्ति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।**
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येष बालिशः ॥
कोप्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैरमासां सदावृतः ।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥
—कारिका, अलातशान्तिप्रकरण, ८३, ८४

२. **न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।**
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥

३. **विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिकबौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति** । (भास्करभाष्य १।४।२५) **ये तु बौद्धमतावलम्बिनो मायावादिनस्तेऽप्यनेन न्यायेन सूत्रकारेणैव निरस्ता वेदितव्याः ।** —भास्करभाष्य २।२।२९

आधार पर या उसी से प्रभावित होकर शंकर ने अद्वैतमत का प्रतिपादन किया है ।

शंकर ब्रह्म से अतिरिक्त किसी अन्य यथार्थ सत्ता को नहीं मानते। विज्ञानभिक्षु एवं भास्कराचार्य के भेदाभेद में हमें एक दूसरे ही प्रकार के अद्वैतवाद का दर्शन होता है । वल्लभाचार्य जीव को अनादि कहते हैं किन्तु ब्रह्म से पृथक् नहीं मानते । उनके मत में जीवावस्था में ब्रह्म का सत् एवं चित् रूप रहता है, केवल आनन्द की शक्ति तिरोहित रहती है । निम्बार्क कहते हैं कि जीव ब्रह्म का अंश है और अज्ञान जीव का धर्म है ।[१] रामानुजाचार्य जीव को नित्य, किन्तु ब्रह्म का विशेषण एवं दोनों में देहात्म-सम्बन्ध मानते हैं । उनके मत में जीव ब्रह्म से पृथक् नहीं है, क्योंकि उनमें स्वगत भेद है । जीव ब्रह्म का अंश है, किन्तु इस रूप में नहीं कि वह ब्रह्म का अवयव है, क्योंकि ब्रह्म निरवयव है । जीवात्मा ब्रह्म का कार्य है, क्योंकि उससे पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं है । किन्तु वे आकाश आदि के समान उत्पन्न कार्यरूप सत्ताएँ भी नहीं हैं । जीव और ईश्वर एक नहीं हैं, क्योंकि जीव तात्त्विक गुणों में ईश्वर से भिन्न है।[२] रामानुज के दर्शन में अस्पष्टता है, क्योंकि रामानुज, शंकर के समान भ्रमवादी नहीं बनना चाहते थे, किन्तु साथ ही अद्वैतसमर्थक प्रतीत होनेवाली श्रुतियों का अर्थ अद्वैत में करना चाहते थे । रामानुज न तो भास्कर की तरह जीव को ब्रह्म का अंश मानने को तैयार थे और न दयानन्द की तरह त्रैतवाद को अपनाने का साहस कर सकते थे ।

---

१. दासगुप्ता : भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग ३, पृष्ठ ४१३

२. The Souls are regarded as the effects of Brahman, since they cannot exist apart from him, and yet they are not produced effects as other and the like. The Jiva is not one with God since it differs in essential character from him.

जब ये विचार इतने स्पष्ट विभेदों के साथ हमारे सामने आते हैं तो उनमें कौन सच्चा और कौन झूठा है–यह जानना अत्यन्त कठिन हो जाता है । इतना निश्चित है कि वे सभी सत्य नहीं हो सकते, क्योंकि सत्य का स्वरूप सदा एक ही हो सकता है । तत्त्व की वास्तविकता के स्वरूप का विस्तार अनन्त है, अतः उसका निर्धारण करना सरल कार्य नहीं है । समय-समय पर पारदर्शी विद्वान् उसे जानने का प्रयास करते रहे हैं । विचार-विभिन्नता मानवीय मस्तिष्क के विकास की द्योतक है । परन्तु विचार-मन्थन तब तक अनपेक्षित है जब तक उन तत्त्वों की यथार्थता और उपयोगिता को नहीं जान लिया जाता जिन पर हमारा अस्तित्व निर्भर है ।

अद्वैत वेदान्त पर कितने ही ग्रन्थ लिखे गए हैं । सुरेश्वर, वाचस्पति मिश्र, पद्मपाद, विद्यारण्य, चित्सुख, सर्वज्ञात्ममुनि, मधुसूदन सरस्वती, अप्पय दीक्षित, सदानन्द आदि सभी एक विचार-प्रणाली में आते हैं । फिर वे भी सभी किसी न किसी अंश में नवीन विषय का प्रतिपादन करते हैं, और किसी विशेष पक्ष को उभारकर उसका विवेचन करते हैं । इस प्रकार एक ही सामान्य विधि का प्रयोग करते हुए तथा एक ही सामान्य मत की व्याख्या करते हुए भी अपने व्यक्तित्व अथवा वैशिष्ट्य की छाप छोड़ देते हैं ।

वैदिक दर्शन के महान् आचार्य शंकर, रामानुज मध्व आदि सभी ने उपनिषदों को अपनी विचारधारा का आधार बनाया । जिन आचार्यों ने उपनिषदों पर अपने भाष्य नहीं लिखे, उन्होंने भी अपने दर्शनशास्त्र का आधार इन्हीं ग्रन्थों को बनाया । यद्यपि इन सभी आचार्यों के दर्शनिक सिद्धान्तों में भारी मतभेद है, तथापि उनमें से हरेक अपने सिद्धान्त को उपनिषद्मूलक बताता है । शंकर के अनुसार उपनिषद् अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं तो रामानुज के अनुसार ये विशिष्टाद्वैत के प्रेरणास्रोत हैं । मध्व इन्हीं में द्वैतवाद का दर्शन करते हैं । सम्भवतः

इसी कारण मैक्समूलर ने उपनिषदों के सम्बन्ध में यह धारणा बना ली कि इनमें नियमित व सुस्पष्ट रूप से कोई विचारधारा नहीं मिलती ।[१]

उपनिषदों में वर्णित परमतत्त्व के ज्ञान का आधार विचार की साधारण प्रणाली न होकर ध्यान की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था 'समाधि' है। समाधि की अवस्था में ध्याता का ध्येय से सीधा सम्बन्ध होता है, अतएव समाधि की अवस्था में प्राप्त ज्ञान बहुत-कुछ निर्भ्रान्त होता है। दर्शन में बुद्धितत्त्व प्रधान होता है और काव्य में रागतत्त्व। उपनिषदों में रागतत्त्व की प्रधानता होने से उनकी शैली में आलंकारिता होने के कारण लक्षणा तथा व्यञ्जना का प्राचुर्य है। परिणामत: दर्शन और उपनिषद् में वस्तु का प्रस्तुतीकरण एक-दूसरे से भिन्न होता है। जब विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य का रूप दिया जाता है तो अभिव्यक्ति भावप्रधान हो जाती है। उपनिषदों में जीवात्मा तथा परमात्मा में आपातत: तादात्म्य का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का यही रहस्य है। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाने पर तल्लीन जीवात्मा के भावोद्रेक की व्याख्या अभिधा द्वारा करना उपनिषदों की वर्णन-शैली के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता का विज्ञापन करना है।

शंकर का अभिमत अद्वैतवाद या मायावाद उपनिषदों अथवा षड्दर्शनों में कहीं नहीं दिखाई देता। रामानुज ने अपने ग्रन्थों में मायावाद की तर्कपूर्ण आलोचना की है। इस विषय में रामानुज से सहमत होते हुए मध्व द्वैतवाद का प्रतिपादन करनेवाले सन्दर्भों को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध मानते हैं। अद्वैतवादी आचार्य ऐसी श्रुतियों को व्यवहार की श्रुतियाँ मानते हैं, परमार्थ की नहीं, क्योंकि उनके मत में परमार्थ में तो केवल अद्वैत है परन्तु उपनिषदों में पारमार्थिक तथा व्यावहारिक सत्ताओं के तात्त्विक भेद की बात कहीं भी नहीं मिलती। षड्दर्शन

१. Maxmuller : Vedanta Philosophy, P. 20.

की भाँति उपनिषदों में भी सृष्टि-रचना का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। स्वप्नवत् अथवा रज्जु-सर्पवत् मिथ्या जगत् की रचना के विषय में इतनी गहराई में जाने की क्या आवश्यकता थी–इसका तर्क-प्रतिष्ठित समाधान आज तक कोई नहीं कर पाया।

जीव, जगत् और ब्रह्म का पारस्परिक सम्बन्ध नितान्त एकत्व अथवा प्रभेदपरक नहीं है। इस प्रकार के मत को मानने से उपनिषदों के उन असंख्य वाक्यों से विरोध होगा जिनमें इनके पारस्परिक भेद पर बल देते हुए जीव के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त किए जाने की प्रेरणा एवम् उद्‌बोधन के साथ-साथ तदर्थ उसका मार्गदर्शन किया गया है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न तत्त्वों के स्वरूप तथा गुणों में भी बहुत सा असामञ्जस्य उत्पन्न होगा। किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये तीनों तत्त्व एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। यदि जीवात्मा और जगत् से परमात्मा सर्वथा अलग होता तो सर्वव्यापक न हो सकता और वह वैसे ही परिमित परिमाण का होता जैसे जीवात्मा और जगत् हैं। यह कथन कि अभेद यथार्थ है तथा भेद उपाधि अथवा अवच्छेद के कारण, स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा मानने का अर्थ होगा कि ब्रह्म अवस्थाओं के अधीन है। इस प्रकार के मत में ब्रह्म न निर्मल रहेगा, न निर्भ्रान्त। इतना ही नहीं, वह सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला भी ठहरेगा। जीवात्मा तथा जगत् ब्रह्म से भिन्न हैं, क्योंकि उनके स्वरूप तथा गुण ब्रह्म के स्वरूप तथा गुणों से भिन्न हैं, किन्तु अपने कार्य तथा व्यवहार के लिए ब्रह्म के अधीन तथा उस पर आश्रित हैं, और इस कारण वे ब्रह्म से सर्वथा स्वतन्त्र तथा भिन्न नहीं हैं।

ईश्वर, जीव तथा प्रकृति ये तीन पदार्थ अनादि काल से अनन्त काल तक रहने वाले हैं। यद्यपि ये मौलिक रूप से एक-दूसरे से भिन्न, यथार्थ तथा नित्य हैं, तथापि पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता एकमात्र ब्रह्म

है जो सम्पूर्ण चराचर जगत् का स्रष्टा तथा नियन्ता है। यद्यपि उसके विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना कठिन है, तथापि उसका स्वरूप ऐसा नहीं है जिसका वर्णन न हो सके। शब्दब्रह्म=वेद के द्वारा हम उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ब्रह्म का जगत् के साथ जो सम्बन्ध है उसे प्रकट करने के लिए वृक्ष का उसकी शाखाओं के साथ, समुद्र का उसकी लहरों के साथ अथवा मिट्टी का उससे बने वर्तनों के साथ जैसे दृष्टान्त उपयोगी नहीं हो सकते, क्योंकि उक्त सब में पूर्ण इकाई का सम्बन्ध जो उसके भाग के साथ है एवं द्रव्य के साथ गुण का जो सम्बन्ध है, उस प्रकार का सम्बन्ध ब्रह्म तथा जीव का उपपन्न नहीं होता। दोनों के निरवयव होने के कारण ब्रह्म तथा जीवात्माओं का न तो बाह्य अर्थात् संयोग-सम्बन्ध हो सकता है, और न आन्तरिक अर्थात् समवाय-सम्बन्ध हो सकता है।

विश्व के कर्त्ता, धर्त्ता, संहर्ता के रूप में परमेश्वर की सत्ता को प्रत्येक शास्त्र स्वीकार करता है। वेदान्त ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध कर उसके स्वरूप की जानकारी दे सकता है, किन्तु उसके स्वरूप का साक्षात्कार नहीं करा सकता। उसके लिए औपनिषद तथा यौगिक प्रक्रियाओं का आश्रय लेना आवश्यक है।

वेदान्तदर्शन में बादरायण का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करना है, अन्य तत्त्वों का प्रतिषेध करना नहीं। यही कारण है कि आचार्य शंकर जैसे प्रकाण्ड विद्वान् भी ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का प्रतिषेध करने के प्रयास में सफल नहीं हो सके। शांकर भाष्य में अनेकत्र उपलब्ध परस्पर विरोधी वचनों से हमारे कथन की सत्यता प्रमाणित होती है। वेदान्तदर्शन पर शंकर का भाष्य वास्तव में बादरायण के दर्शन के प्रसिद्ध व्याख्याता सुरेन्द्रनाथदास गुप्ता के अनुसार अद्वैतमत का प्रतिपादन अथवा ब्रह्मसूत्र का अद्वैतपरक भाष्य

गौडपाद और शंकर से पूर्व किसी ने नहीं किया था ।[१]

शंकर के जगत् के मिथ्यापरक दर्शन में सामाजिक जीवन अथवा नागरिक कर्तव्य का कुछ भी अर्थ नहीं है । यदि यह संसार और इसके रिश्ते-नाते सब मिथ्या हैं तो हमें इसमें रुचि लेने की क्या आवश्यकता है। यदि हमें जीवन के क्रीड़ाक्षेत्र में खेलना है तो हम अपने भीतर यह भावना रखकर, कि यह सब छलावा मात्र है, और इसमें प्राप्त होने वाले पुरस्कार शून्य हैं, खेल में भाग नहीं ले सकते। कोई भी दर्शन इस प्रकार के मत को युक्तियुक्त मानकर शान्ति प्राप्त नहीं करा सकता । इस प्रकार की प्रकल्पना में सब से बड़ा दोष यह है कि हम ऐसे प्रमेय पदार्थों में लगे रहने को बाध्य होते हैं जिनके अस्तित्व का हम बराबर निषेध कर रहे होते हैं । यदि बन्धन और मोक्ष, जीवात्मा और जगत् सब मिथ्या हैं तो वस्तुतः एक मिथ्या आत्मा, इस मिथ्या जगत् में मिथ्या बन्धनों से मुक्त होने का व्यर्थ प्रयास कर रहा है ।

कुछ लोगों का कहना है कि मनुष्य की दार्शनिक सन्तुष्टि इसी में होती है कि सम्पूर्ण जगत् का पर्यवसान एकत्व में हो । परन्तु दर्शन का लक्ष्य सत्य की खोज करना है, न कि अपनी भावनाओं की सन्तुष्टि के लिए सत्य का गला घोंटना । कुछ लोगों के लिए अद्वैतवाद आकाश का विषय हो सकता है परन्तु जो आकर्षक है, यह आवश्यक नहीं कि वह सत्य भी हो और शिव भी । हमें अच्छा लगे या न लगे, हमारे अहं को ठेस ही क्यों न लगे, किन्तु वस्तुस्थिति यही है कि न हम ब्रह्म थे, न हैं, और न कभी हो सकेंगे । वस्तुस्थिति

---

१. I do not know of any writer previous to Gaudapada who attempted to give an exposition of the mouistic doctrine either by writing a commentary as did shankara or by writing an independent work as did Gaudapada.

—S.N. Dass gupta : History of Indian Philosophy. Vol., I. P. 422

को समझ लेना ही तत्त्वज्ञान है, यथार्थज्ञान है । ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर उसका साहचर्य हमें मिलेगा, किन्तु उस अवस्था में भी हम ज्ञान, कर्म, सामर्थ्य और आनन्द तीनों की दृष्टि से अणु-परिच्छिन्न ही रहेंगे । इसी प्रकार जगत् के विलय होने पर भी उसके मूल उपादान प्रकृति की सत्ता बनी रहेगी । जिस प्रकार बह्म सर्वज्ञ है, उसी प्रकार जीव अल्पज्ञ है, और प्रकृति अज्ञ है । तीनों स्वभाव से ऐसे हैं और सदा ऐसे ही रहेंगे । यही वैदिक दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। अद्वैतवाद की घोषणा करनेवाले भी इस तथ्य को नहीं झुठला सके। शुद्ध चेतन ब्रह्म के साथ अनादि तथा माया की कल्पना करके उन्हें प्रकारान्तर से स्वीकार करना पड़ा कि केवल ब्रह्मतत्त्व समस्त चेतनाचेतन जगत् का मूल नहीं हो सकता ।

वेदादि शास्त्रों में 'ब्रह्मपद' 'ईश्वर' जीव और प्रकृति तीनों का वाचक है । वेद में 'ज्येष्ठ' पूर्वक ब्रह्म पद ईश्वर का वाचक है, 'इदं' पूर्वक जीव का तथा 'महत्' पूर्वक प्रकृति का । इस प्रकार ब्रह्म अर्थात् महानता के तीन रूप हैं । स्थल-प्रकरण के अनुसार अर्थ का निर्धारण होता है । जीव तथा प्रकृति का निषेध करके केवल अद्वैत ब्रह्म को माननेवाला पूर्ण आस्तिक नहीं कहा सकता ।

ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तदर्शन को नवीन वेदान्त अथवा अद्वैतवाद का मूलाधार माना जाता है । सभी दर्शनों में वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है । साथ ही 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' का सिद्धान्त भी सभी मनीषियों को मान्य है । जब हम बुद्धिपूर्वक वेदान्तसूत्रों पर विचार करते हैं तो उनमें ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का अनादित्व प्रतिपादित है—इसी निश्चय पर पहुँचते हैं । जिन सूत्रों के आधार पर 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' के भाव को उभारकर अद्वैतवाद का 'घटाटोपो भयङ्करः' महल खड़ा करने का प्रयास किया जाता है, स्थालीपुलाकन्याय से उनमें से कतिपय अधिक महत्त्वपूर्ण

सूत्रों का वास्तविक अर्थ प्रस्तुत करके यहाँ उन पर ऊहापोहपूर्वक विचार किया गया है ।

१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥१।१।१॥

वेदान्तदर्शन का आरम्भ ब्रह्मजिज्ञासा से होता है । ब्रह्म को जानने की इच्छा उसी को होगी जो उसे नहीं जानता । सर्वज्ञ ब्रह्म स्वयम् अपने को जानने की इच्छा करे–यह अपने-आप में कितना उपहासास्पद है । जिज्ञासु तथा जिज्ञास्य एक नहीं हो सकते । स्पष्ट है कि ब्रह्म को जानने की इच्छा करनेवाला ब्रह्म से भिन्न कोई है । प्रकृति के जड़ होने से उसके जिज्ञासु होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, अतः चेतन, किन्तु अल्पज्ञ, जीव ही ब्रह्म को जानने की इच्छा कर सकता है ।

किस ब्रह्म को जानने की जीव की इच्छा है ? 'किस ब्रह्म को ?' यह प्रश्न इसलिए उठा कि शांकर मत में ब्रह्म दो प्रकार का है, अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं–एक नामरूप विकारभेद की उपाधि वाला और दूसरा सब प्रकार की उपाधियों से मुक्त ।[१] एक परब्रह्म है जो सर्वथा निर्गुण है। वह सत्तामात्र है । दूसरा अपर ब्रह्म है जो माया की उपाधि के कारण बन जाता है । यह दूसरी प्रकार का ब्रह्म ईश्वर कहाता है । परब्रह्म की अपेक्षा यह घटिया स्तर का ब्रह्म है । जिस ब्रह्म को जानने की इच्छा की गई है, उसका परिचय सूत्रकार यह कहकर देते हैं कि ब्रह्म वह है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है[२] और जो समस्त ज्ञानविज्ञान का आदिस्रोत है ।[३] शांकरमत के अनुसार परब्रह्म सर्वथा निष्क्रिय है । इसलिए वह न सृष्टि

---

१. **द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते–नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्** ॥ –शां० भा० १।१।११

२. **जन्माद्यस्य यतः ।** –वे० द० १।१।२

३. **शास्त्रयोनित्वात् ।** –तदेव १।१।३

को उत्पन्न करता, न उसका पालन करता और न विलय करता है। ऐसे समस्त कार्यों के करने का दायित्व अपर ब्रह्म पर है जो माया की उपाधि से ग्रस्त है। हमारा काम तो इसी ब्रह्म से निकलता है। मनुष्य अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने और भविष्य के लिए मोक्षलाभ के निमित्त अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए इस लोक में आता है। इन दोनों प्रयोजनों की सिद्धि में साधनरूप जगत् की रचना जिस ब्रह्म ने की है, हमारे लिए तो वही उपयोगी है। इसलिए हम उसी को जानना चाहेंगे। इस पर शंकर कहते हैं कि उसे जानकर क्या करोगे ? वह तो अपर ब्रह्म है। वह तो रज्जु में सर्प की भाँति माया की उपाधि से अध्यस्त ब्रह्म है। जल के प्यासे को मृगतृष्णिका की ओर संकेत करके दौड़ा देना उसके साथ धोखा करना है। ब्रह्मसूत्रकार ने ब्रह्म के जिज्ञासुओं को 'जन्माद्यस्य यतः।' इन शब्दों में उसका परिचय देकर अपर ब्रह्म की ओर निर्देश करके उनके साथ धोखा किया है। यह तो निम्नस्तरीय अध्यस्त ब्रह्म निकला वास्तविक नहीं। परन्तु धोखा करने वाले वास्तव में भाष्यकार शंकर हैं, सूत्रकार बादरायण नहीं। समस्त वेदान्तसूत्रों में अथवा अन्य दर्शनों में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिससे दो प्रकार का ब्रह्म होने का संकेत मिलता हो। जयतीर्थ ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "ब्रह्म के दो रूप अप्रामाणिक होने से असिद्ध हैं।"[1] वेद की घोषणा है कि "वह एक ही है।"[2]

***

१. जयतीर्थ—न्यायसुधा, पृष्ठ १२४

२. **स एष एक एकवृदेक एव।** —अथर्व० १३।४।२०

वेदाध्ययन में अधिकार

पृथिवी आदि के उपभोग के समान वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र का अधिकार है ।

जैसे द्विजाति, वैसे ही शूद्र भी भगवान् की उत्पादित प्रजा हैं । पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, ओषधि, वनस्पति, अन्नादि सृष्टि में जितने भी पदार्थ हैं उनके उपभोग का अधिकार सब को समान रूप से प्राप्त है। इसी प्रकार ईश्वर के दिये ज्ञान वेद का अध्ययन कर तदनुकूल आचरण करने का अधिकार भी मनुष्य मात्र को है । भगवान् की दृष्टि में सब बराबर हैं । ईश्वरीय विधान में अवसर की समानता सब को प्राप्त है । उससे लाभ उठाना प्रत्येक जीव के अपने अपने सामर्थ्य पर निर्भर है ।

जीवात्माओं के कल्याण के लिए वेदादि शास्त्रों का उपदेश है परन्तु उनके अध्ययन और समझने का सामर्थ्य जीवात्मा को मनुष्ययोनि में पहुँचकर ही प्राप्त होता है । इसलिए केवल मानव का शास्त्र में अधिकार है, अन्य प्राणियों का नहीं । तब इस योनि को प्राप्त करनेवाले जीवात्माओं में से किसी को शास्त्रज्ञान से और वह भी सब के पिता स्वयं भगवान् के ज्ञान वेद से वंचित कर देना कितना बड़ा अन्याय होगा ।।१।।

फिर भी कुछ लोगों का कहना है–

न श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेः ।।२।।

स्मृति के अनुसार श्रवण, अध्ययन और अर्थ (अनुष्ठान) का निषेध होने से (सब को वेदाध्ययन का अधिकार) नहीं ।।२।।

सब का अधिकार न होने में एक और हेतु देते हैं–

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेश्च ॥२॥

तथा शूद्र न पढ़ें, इस श्रुति से (सब को वेदाध्ययन अथवा अध्ययनमात्र का अधिकार नहीं) ॥३॥

प्रतिषेधनमसूयकादेः ॥४॥

असूयक आदि के लिए निषेध है ।

जहाँ कहीं निषेध किया है वहाँ उसका इतना ही अभिप्राय है कि जो कोई ब्रह्मचर्य के अभाव, बौद्धिक दोष, चरित्रहीनता, उद्दण्डता आदि के कारण वेदाध्ययन के लिए अनुपयुक्त हो उसे पढाना व्यर्थ है । यह घोषणा होने पर भी कि "इस संस्था के द्वार सब के लिए खुले हैं ।" उसमें प्रविष्ट होने के लिए निर्धारित न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता, बौद्धिक स्तर आदि की शर्तों को पूरा करना आवश्यक होता है । इस मान्यता का आधार वेदान्तदर्शन का **श्रवणाध्ययनार्थ-प्रतिषेधात् स्मृतेश्च ।**–यह सूत्र (१।३।३८) माना जाता है । वस्तुतः इस सूत्र में अथवा इसके आसपास कहीं भी इस दूषित कल्पना का लेश भी नहीं है । अनुभवी शिक्षाशास्त्रियों ने कतिपय ऐसे दोषों –ईर्ष्या, असूया, चपलता, मद, मोह, गुट बनाना, उद्दण्डता, अध्ययन में अरुचि आदि का निर्देश किया है जो विद्याभ्यास में बाधक होते हैं । प्रस्तुत सूत्र से पूर्व के कुछ सूत्रों में विस्तारपूर्वक उनका विवेचन किया गया है । इस विषय में स्मृतियों में सर्वाधिक प्रामाणिक मनुस्मृति (२।११४) में कहा है–

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां माऽदास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥

विद्या ने ब्राह्मण-वेदवेत्ता के पास जाकर कहा–"मैं तेरी निधि हूँ, मेरी रक्षा कर । असूया करनेवाले को मुझे मत दे । मेरी शक्तिमत्ता एवं सार्थकता इसी में है ।" इसी भाव को निरुक्त (२।१।४) में इन

शब्दों में उद्धृत किया है–

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

यही बात गीता (१८।६७) में किञ्चिद् भिन्न शब्दों में कही गई है–

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

यह अध्यात्मविषयक ज्ञान ऐसे व्यक्ति को नहीं देना चाहिये जो तपस्वी न हो, विद्या के प्रति भक्ति न रखता हो, आचार्य के प्रति जिसमें सेवाभाव न हो तथा जो ईश्वर के प्रति आस्तिक बुद्धि रखनेवाला न हो ।

उपनिषदादि वैदिक साहित्य में अनेकत्र इस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है । अध्येता अथवा जिज्ञासु में अपेक्षित गुणों का होना इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है कि इनके न होने पर मनुस्मृति में निर्देश किया गया है–

विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥

ब्रह्मवादी वेदाध्यापक भले ही विद्या को अपने साथ लेकर मर जाए, पर घोर विपत्ति में भी इसे ऊसर में न बोए, अर्थात् अनधिकारी को विद्या न दे ।

यहाँ केवल यह बताना अभिप्रेत है कि मनुष्यमात्र में शास्त्र के अध्ययन, श्रवण में कौन व्यक्ति अधिकारी है, कौन नहीं । अधिकार का आधार कुछ विशिष्ट गुण हैं न कि किसी वर्णविशेष में जन्म । शूद्रकुल में जन्म लेने के कारण किसी के वेदाध्ययन का अधिकारी न होने का कहीं संकेत तक नहीं है । हाँ, **हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्** (१।३।२५) से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि

वेदान्तसूत्रकार वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र का अधिकार मानता है।

इस एक सूत्र को न समझकर पौराणिक आचार्यों ने अपनी दूषित भावना को आरोपित कर इतना बड़ा अनर्थ कर डाला कि उसके कारण सभ्य मानवसमाज में वैदिकधर्माभिमानी लोगों का मुँह काला हो गया। सब से अधिक खेद और आश्चर्य का विषय यह है कि इस अनर्थ के प्रयोजक चराचर जगत् (जिसमें द्विजों के साथ-साथ शूद्र और स्त्रियाँ सभी सम्मिलित हैं) को एक ब्रह्म का ही रूप माननेवाले जगद्‌गुरु शंकराचार्य थे। उक्त सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होंने लिखा—

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थं प्रतिषेधो भवति, वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थ ज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेध स्तावत्—अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमिति पद्युह वा एतत् श्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम् इति च। अतएवाऽध्ययनप्रतिषेधः यस्य हि समीपेऽपि नाऽध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधीयीत भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः इति। अतएव चाऽर्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति—न शूद्राय मतिं दद्यात् इति द्विजातीनामध्ययनमिज्यादानम् इति च।

अर्थात्—इससे भी शूद्र का विद्या में अधिकार नहीं है, क्योंकि स्मृति उसके श्रवण, अध्ययन और अर्थ का निषेध करती है। स्मृति में शूद्र के लिए वेद के श्रवण, वेद के अध्ययन और वेदार्थ के ज्ञान एवम् अनुष्ठान का निषेध है। इसलिए समीप से वेद का श्रवण करनेवाले शूद्र के कानों को सीसे और लाख से भर दे। शूद्र चलता-फिरता श्मशान है इसलिए शूद्र के समीप अध्ययन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार श्रवण का निषेध है। फिर वह अध्ययन कैसे

कर सकता है । यदि शूद्र वेद का उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट देनी चाहिए । यदि वेद को याद करे तो शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने चाहिएँ । इसी हेतु से कि शूद्र के लिए अध्ययन एवम् अनुष्ठान का निषेध है, ब्राह्मण को चाहिए कि शूद्र को ज्ञान न दे । अध्ययन, यज्ञ और दान का विधान द्विजों के लिए ही है ।

रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि सभी पौराणिक आचार्यों ने आद्य शंकराचार्य की ही पुष्टि की है । परन्तु ये सब अर्थ इन आचार्यों की निकृष्ट एवम् अवैदिक विचारधारा के परिचायक हैं। आर्ष साहित्य में कहीं से भी इनका समर्थन नहीं होता ।।४।।

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतिः ।–यह कल्पित वचन ही है ।

वेद के नाम पर प्रचलित इस वचन को प्रस्तुत करके प्रायः स्त्रियों तथा शूद्रों के वेद पढ़ने-पढ़ाने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाया जाता रहा है । वास्तव में वेदों में ही नहीं, अन्य किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में भी यह वचन उपलब्ध नहीं है, अतः यह स्वार्थी तथा धूर्त लोगों की ही कपोलकल्पना है जिसके आधार पर विश्व की लगभग तीन-चौथाई मानवजाति को वेदज्ञान से वंचित रखने की घृणित चेष्टा की जाती रही है । इस वचन के सर्वथा विपरीत, वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र के अधिकार का प्रतिपादन वेद में स्पष्ट मिलता है ।।५।।

यथेमां वाचम्–इस साक्षात् श्रुतिवचन से (स्त्रीशूद्रौ वचन कल्पित सिद्ध हो जाता है) ।

यजुर्वेद (२६।२) का मन्त्र है–

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ।

परमेश्वर कहता है कि जैसे मैं अपनी कल्याणकारिणी वेदवाणी का मनुष्यमात्र के लिए उपदेश करता हूँ, वैसे ही तुम भी

किया करो। मैंने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों तथा अतिशूद्रों आदि सभी के लिए वेदों का प्रकाश किया है।

इस मन्त्र के अनुसार मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ प्रदत्त वेदवाणी पर जैसा अधिकार ब्राह्मण को प्राप्त है, वैसा ही अन्य सब को है। मनुष्यों में सर्वोपरि आप्तपुरुष मनु हैं और मनु की दृष्टि में **प्रमाणं परमं श्रुतिः**।–वेद से बढ़कर दूसरा प्रमाण नहीं। ऐसी अवस्था में स्वयं वेद द्वारा वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र के अधिकार की घोषणा के पश्चात् अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती ॥६॥

उक्त मन्त्र का भाष्य करते हुए पौराणिक विद्वान् महीधर ने लिखा है–"**आवदानि सर्वतो ब्रवीमि, सर्वेभ्यो वच्मि।**" चारों वर्णों के वेदाध्ययन में अधिकार को स्वीकार करते हुए मनुष्यमात्र के अधिकार की घोषणा करते हुए वेद के आधार पर उन्होंने लिखा–"**स्वायात्मीयाय अरणाय पराय। अरणोऽपगतोदकः नास्ति रणः शब्दो येन, सह वाक्सम्बन्धरहितः शत्रुरिति।**" अर्थात् अपने-पराये सब के लिए परमेश्वर ने वेद का ज्ञान दिया है।

शंकर का अवतरण नास्तिक मतों के स्थान पर वैदिक मत–ईश्वर तथा वेद की स्थापना के लिए हुआ था। किन्तु वह वेदोक्त ईश्वर तथा ब्रह्मसूत्र के ब्रह्म को छोड़कर गौड़पाद के ब्रह्म के चक्कर में फंस गये, और वेदों को भुलाकर प्रस्थानत्रयी के फेर में पड़ गये। परिणाम स्वरूप शंकर वेदों में निष्णात और उनके प्रति पूर्ण आस्थावान् होते हुए भी उन्हें प्रतिष्ठित करने के लिए कुछ नहीं कर सके। ब्रह्मसूत्र के भाष्य के आरम्भ में वेद के ईश्वरोक्त होने का प्रतिपादन करने के अतिरिक्त उन्होंने कुछ नहीं किया। शंकर के समूचे साहित्य में वेद की एक भी ऋचा को उन्होंने कभी उद्धृत नहीं किया। इसके विपरीत वेदों के पठन-पाठन से शूद्रों को वंचित करके एक

बहुत बड़े वर्ग को वेदाध्ययन से वंचित कर दिया । जैनों का कभी इतना अधिक वर्चस्व था कि पौराणिकों को अपने मन्दिरों को बचाने के लिए अपने अनुयायियों को यह आदेश देना पड़ा था– **'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्'** । पर शंकर के तर्कों ने उन्हें चुपचाप एक कोने में बिठा दिया । और बौद्धों को तो ऐसा उखाड़ फेंका कि शंकर के मारे वे फिर भारत में सन् १९५४ में जवाहरलाल नेहरू का पल्ला पकड़ कर यहां प्रवेश कर सके । बौद्धमत राज्य शक्ति के सहारे फैला था । राज्य शक्ति के द्वारा ही वह फिर स्थान पा सका पर इतना सब करके भी शंकर प्राचीनतम वैदिक धर्म को पूर्ववत् प्रतिष्ठित न कर सके ।

जब शंकर ने जगत् को मिथ्या घोषित कर दिया तो साधारण लोग उसके प्रति वितृष्ण हो गये । परिणामतः इस देश की धरती से उनका लगाव जाता रहा । कुछ समय पश्चात् जब शकों और हूणों ने इस देश पर आक्रमण किये तो जैनों और बौद्धों के अहिंसा के अतिवाद और शंकर के मिथ्यावाद से हतोत्साह लोगों को आक्रमणकारियों ने समझाया–तुम इस मिथ्या जगत् के पीछे क्यों मरते हो । सत्यब्रह्म को तुम अपने पास रखो इस मिथ्या जगत् को हमारे लिए छोड़ दो–इसे हम संभाल लेंगे ।

आज शंकर का ब्रह्म सत्यं कागजों में ही लिखा मिलता है । व्यवहार में सर्वत्र जगत्सत्य ही व्याप्त है ।

स्त्रियों को तिरस्कृत तथा शूद्रों को वेदाध्ययन से वंचित करके शंकर ने देश जाति और अपनी जन्मभूमि का कितना अहित किया, इसकी कल्पना भी उन्होंने न की होगी ।

स्त्रियों और शूद्रों के प्रति शंकर का यह आक्रोश अकारण नहीं था । इसकी पृष्ठभूमि में वे दो घटनाएं थीं जिनसे उनके अहं को भारी धक्का लगा था । शंकर के प्रतिद्वन्द्वी मण्डन मिश्र इन्हीं

के समान उच्च कोटि के विद्वान् थे। दोनों के बीच शास्त्रार्थ हुआ, शास्त्रार्थ की मध्यस्थता मंण्डनमिश्र की पत्नी भारतीदेवी ने की। शास्त्रार्थ के समय यह शर्त थी कि हारने वाला जीतने वाले के मत को ग्रहण कर लेगा। भारतीदेवी ने शंकर को शास्त्रार्थ में विजयी घोषित कर दिया। पूर्वनिश्चित शर्त के अनुसार शंकर ने मण्डन मिश्र को अपना मत त्याग कर उनके शंकर के मत को ग्रहण करने के लिए कहा तो भारतीदेवी बोली। आचार्य ! मण्डन गृहस्थ हैं मैं उनकी अर्धांगिनी हूं। मण्डन पूरी तरह पराजित तब माने जायेंगे जब आप मुझ से शास्त्रार्थ में विजयी होंगे। शास्त्रार्थ हुआ जिसमें भारतीदेवी से शंकर पराजित हुए।

तत्पश्चात् एक दिन आचार्य शंकर काशी में प्रातः काल के समय सड़क पर घूम रहे थे। सामने से उन्होंने झाड़ू लगाती आ रही एक स्त्री को देखा निश्चय ही वह शूद्रा थी। शंकर ने उसे एक ओर हट जाने के लिए कहा। झाड़ू लगाने वाली शंकर को पहचानती थी। बोली–आचार्य किसे हटने को कह रहे हो ? 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का प्रचार करते हो। ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता आप नहीं मानते। जैसे आप ब्रह्म का अंश हैं वैसे ही मैं भी ब्रह्म हूं। आज आप को अनायास ब्रह्म की प्राप्ति हो गई है उसे एक ओर हटने के लिए न कहकर छाती से लगाओ अथवा हृदय में स्थान दो। शंकर हतप्रभ हो गये। भारतीदेवी तो स्त्री ही थी किन्तु वह झाड़ू लगाने वाली स्त्री और शूद्र दोनों थी। शंकर इस डबल आघात को न भुला सके।

शंकर के शूद्रों के प्रति घृणित व्यवहार का ही यह परिणाम है कि स्वयं शंकर के जन्म-स्थान कालणी (केरल) में ७५ प्रतिशत आबादी हिन्दू धर्म को त्याग कर ईसाई और मुसलमानों की है। वहां खड़े सैकड़ों गिरजे और मस्जिद शंकर और उनके अनुयायियों को

मुंह चिढ़ा रहे हैं । शंकर से प्रेरणा पाकर मध्यकालीन आचार्यों में प्रमुख गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्वरचित रामचरितमानस में व्यवस्था दे दी–

पूजिये विप्र शीलगुणहीना ।
शूद्र न गुणगणज्ञानप्रवीणा ॥

तथा

ढोल गंवार शूद्र पशु नारी ।
ये सब ताड़न के अधिकारी ॥

इस प्रकार अपमानित और तिरस्कृत होकर हिन्दुओं की संस्था का बहुत बड़ा भाग धर्मपरिवर्तन कर मुसलमान और ईसाई बन गया। सन् १९४७ में देश का विभाजन होकर पाकिस्तान व बंगलादेश के रूप में मुस्लिम बहुल दो देशों के बनने के लिए शंकराचार्य व तुलसीदास को दोषी ठहराना गलत नहीं होगा ।

परकाया प्रवेश

कहते हैं कि शंकराचार्य के साथ शास्त्रार्थ में भारतीदेवी ने एक ऐसा प्रश्न उठा दिया था कि उसका उत्तर स्त्रीसंग का अनुभव प्राप्त किये बिना देना सम्भव नहीं था, इसलिए शंकर ने उत्तर देने के लिए कुछ मोहलत चाही, इस बीच शंकर ने सद्यः मृत एक राजा के शरीर में प्रवेश किया और उसकी रानी से सम्बन्ध बनाकर अपेक्षित अनुभव प्राप्त किया । यह किंवदन्ती से अधिक कुछ नहीं हो सकता । क्योंकि–

१. एक शरीर का परित्याग करके स्वेच्छानुसार दूसरे शरीर में प्रवेश करना जीव के अधिकार क्षेत्र में नहीं है । वेद में ईश्वर का एक नाम असुनेता है=प्राणों को ले जाने वाला, अर्थात् पूर्वकृत

कर्मों के अनुसार यथासमय प्राणों को एक शरीर से निकाल कर दूसरे में डालना परमेश्वर का काम है ।

२. किसी जीव को अपने भाग्य का निर्णय करने का अधिकार नहीं है ।

३. कर्मों का लेखा-जोखा रखना और उनके अनुसार उसके कर्मफल का निश्चय करके उसके भोग के अनुरूप आवश्यक व्यवस्था करना, सीमित ज्ञान तथा सामर्थ्य वाले जीव के वश का नहीं है ।

४. जीव जब एक शरीर को छोड़ देता है तो पुनः उसी में प्रवेश नहीं करता, इसीलिए रानी के संग से प्राप्त अनुभव के बाद उसके राजा के शरीर में प्रविष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

५. शरीर से जीवात्मा के निकलते ही वह सड़ने लगता है, इसलिए घर के लोग उसे भस्म करके समाप्त कर देते हैं-भस्मान्तं शरीरम् ।

६. जड़ पदार्थ में स्वयं कोई क्रिया नहीं होती, कर्म चेतन के द्वारा होता है, और वही उसके फल को भोगता है । यदि शंकर की आत्मा को मृत राजा के शरीर में माना जायेगा तो वह स्त्रीसंग का दोषी होगा । इस प्रकार शंकर ब्रह्मचर्य तथा संन्यास की मर्यादा भंग करने के दोषी होंगे । इसलिए शंकर के परकाया प्रवेश की बात तथ्यात्मक न होकर केवल कपोल कल्पित है ।

***

वेदविद् दयानन्द

१९वीं शताब्दि में भारत के पुनर्जागरण के पुरोधा दयानन्द किसी नये मत के प्रवर्तक न होकर प्राचीन वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक थे । बम्बई में वहां के कतिपय सम्भ्रान्त लोगों ने उनसे मिलकर आर्यसमाज की स्थापना के सम्बन्ध में चर्चा की तो वे बोले–भाई हमारा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है, मैं तो वेद के अधीन हूँ। मेरा अभिप्राय तो यह है कि भारतवर्ष में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हैं । वेद शास्त्र रूपी समुद्र में वे सब नदी नाव मिला देने से ऐक्यता होगी और धर्म ऐक्यता से सांसारिक और व्यावहारिक धारणा होगी । और इससे कला कौशलादि सब अभीष्ट सुधार हो के मनुष्यमात्र का जीवन सफल हो के अन्त में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होगी। मैं कुछ कीर्ति का रागी नहीं हूं चाहे मेरी कोई स्तुति करे या निन्दा । मैं अपना कर्तव्य समझ के अर्थ बोध कराता हूं । चाहे कोई माने या न माने, इसमें मेरा कोई हानि लाभ नहीं है । मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूं । इससे यदि कोई मेरी गलती भी पायी जाये तो युक्ति पूर्वक परीक्षा करके इसको भी सुधार लेना।

१० अप्रैल १८७५ को बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना करते समय उसका उद्देश्य दयानन्द ने इन शब्दों में लिखाया था–'आसमाजनो मुख्य उद्देश्य एछे कि वेदविहित धर्मतत्त्वो प्रत्येक सभासद ने मान्य करवा तथा देशदेशान्तर मा तेनो प्रचार-प्रसार करवाने प्रयत्न करवो' । आर्यसमाज के नियमों का निर्धारण करते समय उसके तीसरे नियम में यह कहा गया–'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है । वेद का पढ़ना

पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है' । तदनन्तर सारा जीवन वेद को समर्पित कर वे उनके प्रचार और प्रसार में प्रवृत्त रहे ।

३० अक्टूबर सन् १८८३ को दयानन्द की मृत्यु हुई । उनकी मृत्यु का समाचार (Obituary) करते हुए तत्कालीन पत्रों में लिखा गया था–

Dayananda was one of the our Rishies to whom the Vedas were revealed in the beginning of the world. The one mission of his life was to preach the subtime truths of the Vedas to all mankind.

अर्थात्–दयानन्द उन चार ऋषियों में से एक (यद्यपि दूसरे शरीर में) थे जिन्हें परमेश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों का ज्ञान दिया था । उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य मानव जाति में वेदों की सच्चाइयों का प्रचार करना था । उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दयानन्द सर्वात्मना वेदों को समर्पित थे । 'प्रमाणं परमं श्रुतिः ।' के रूप में वेद सदा से सब को सर्वोपरि मान्य रहे हैं । दयानन्द ने उन्हें युक्ति प्रमाण पुरःसर ईश्वरीय ज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया और स्वरचित भाष्य के द्वारा उनके विषय में महर्षि कणाद की 'बुद्धि- पूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे । तथा महर्षि मनु के **'सर्वज्ञानमयो हि सः ।'**–इन मान्यताओं की पुष्टि की ।

प्राचीन काल के ऋषि साक्षात् कृतधर्मा थे । अर्थ–ज्ञान के लिए उन्हें भाष्यों की आवश्यकता नहीं थी । वे वेद से वेद का अर्थ करने में समर्थ थे । इसलिए उस काल में वेदभाष्य नहीं किये गये–यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर वेदभाष्य में सहायक व्याकरण निघण्टु निरुक्त आदि ग्रन्थों की रचना की जाती रही । मध्यकालीन आचार्य वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में भेद न जानने के कारण वेदों के वास्तविक

अर्थों को प्राप्त न कर सके । इसके अतिरिक्त वाममार्ग से प्रभावित अपने आश्रयदाताओं की ठकुर सुहाती के कारण भी वे उनकी इच्छानुसार वेदों के अर्थ करने को विवश थे । आधुनिक काल के पाश्चात्त्य विद्वान् अपने जातीय पक्षपात, धर्मान्धता तथा राजनैतिक शंकराचार्य के समय में अवैदिक मतों में केवल जैन और बौद्ध अभिप्रेत थे । दयानन्द के समय में आते-आते अवैदिक मत चारों ओर कुकुरमुत्तों की तरह सैकड़ों की संख्या में पहुंच गये उनमें सैमेटिक नाम से पुकारे जाने वाले दो विदेशी मत–इस्लाम तथा ईसाइयत–मुख्य थे । ये दोनों मत अवैदिक होने के साथ-साथ विदेशी भी थे । मध्यकाल में जिस पौराणिक मत का विस्तार हुआ था, अपने अवान्तर भेदों के साथ अनेक रूप होकर व्यक्ति, समाज तथा देश के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो रहा था । मूर्तिपूजा, गुरुडम, फलित ज्योतिष, भूत-प्रेत, बलि-प्रथा, बालविवाह, विधवा-विवाह, छुआछूत आदि के कारण समाज और देश दोनों खोखले होते जा रहे थे । विदेशी अंग्रेजों की कूटनीतिक चालों के कारण हम स्वदेश में उत्पन्न होकर भी स्वयम् अपने आपको विदेशी मानने लगे थे । लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जैसे महान् नेता एक ओर जहां 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का नारा लगा रहे थे, वहां अपने ग्रन्थों के द्वारा यह भी प्रचार कर रहे थे कि, जिनके नाम से यह देश आर्यावर्त कहाता था वे आर्य स्वयं विदेशों से आकर इस देश पर आक्रमण करके इस पर बलात् अधिकार किये बैठे थे । इस से मुसलमानों और अंग्रेजों को इस देश पर शासन करने का तर्कसंगत आधार मिल गया था । उनका कहना था और आज भी कह रहे हैं कि यदि मध्य एशिया, उत्तरी ध्रुव आदि से आने वाले आर्यों को इस देश पर राज्य करने का अधिकार है तो हमें क्यों नहीं । जैसा कि हम अभी ऊपर लिख आये हैं विदेशी शासकों द्वारा किये जा रहे प्रचार से अपने धर्म, सभ्यता, संस्कृति आदि से हम विमुख होते जा

रहे थे ।

इस बात की ओर सब से पहले दयानन्द का ध्यान गया और उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में लिखा–

सृष्टि के आरम्भ में आर्यों ने इस देश को बसाया और स्वयम् उसमें रहने के कारण उसे आर्यावर्त नाम दिया । आर्यों से पहले यहां कोई नहीं बसता था । इस प्रकार आर्य लोग इस देश के मूल निवासी हैं । बाहर से आकर इस पर बलात् अधिकार करके बसने वाले नहीं, किसी संस्कृत ग्रन्थ में ऐसा नहीं लिखा । पुन: विदेशियों के कहने से इसे सत्य कैसे माना जा सकता है । लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार कह तो दिया परन्तु अपने ग्रन्थों में इसके विरोधी युक्ति और प्रमाण देकर अपने कथन को अन्यथा कर दिया। दयानन्द के कथन को मानकर ही इस देश पर राज्य करने का हमारा जन्मसिद्ध अधिकार बनता है । इस प्रकार दयानन्द ही स्वराज्य के मन्त्रदाता ठहरते हैं ।

अन्धे को लाठी मिल गई

एक दिन दयानन्द ध्यानावस्थित बैठे थे, अचानक किसी गीली और ठंडी वस्तु के स्पर्श से उनका ध्यान भंग हो गया । उन्होंने आंखें खोलीं तो एक स्त्री को अपना सिर उनके चरणों में रखे देखा । उनका शरीर कांप गया । उन्होंने न कोई अपशब्द कहा न क्रोध किया परन्तु अनजाने में ही ब्रह्मचर्य की मर्यादा भंग होने पर वह वहां से उठे और एकान्त स्थान पर चले गये। वहां वे तीन दिन तक बिना कुछ खाये पिये समाधिस्थ हो बैठे रहे । लौटने पर जब उन्होंने गुरुचरणों का स्पर्श किया तो गुरु जी ने उन्हें उठाकर छाती से लगा लिया । जब उन्होंने दयानन्द से तीन दिन तक अनुपस्थित रहने का कारण पूछा तो जो कुछ

हुआ था गुरु जी को सुना दिया । गुरु जी के नेत्रों से आनन्द के अश्रु बहने लगे और वे प्रसन्न होकर बोले–'अन्धे को लाठी मिल गई' । गुरुवर ने दयानन्द में क्या देखा, जिस से प्रभावित होकर उनके मुख से ये शब्द निकले । वेद में कहा है–**'आचार्यः ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणःमिच्छति ।'** गुरुवर ने अपने शिष्य में अविप्लुत ब्रह्मचर्य का मूर्तरूप देखा, इससे उन्हें विश्वास हो गया कि उनकी विद्या दयानन्द में फलीभूत हो रही है, और जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने अपने शिष्य को तैयार किया है उसे वे दयानन्द के द्वारा प्राप्त कर लेंगे । 'अन्धे को लाठी मिल गई'–आशीर्वादात्मक इस एक वाक्य से जो आनन्द और शक्ति दयानन्द को मिली होगी, इसका अनुमान कौन लगा सकता है ।

इस बात को हम अपने जीवन के संस्मरण से उदाहृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं । डी० ए० वी० कालिज होशियारपुर से अपनी शिक्षा समाप्त करके जब हमने कालिज को छोड़ा तो हमारे प्रिंसीपल श्री रामदास जी (कालान्तर में संसत् सदस्य) हमें थमाये गये ।

मैंने अन्य कुछ न लिखकर केवल एक वाक्य में यह लिख दिया था–"He is likely to acquit stances may be under which to be placed."

उनके इस एक वाक्य से अपने जीवन में जो प्रेरणा और शक्ति मिलती रही उसे आज भी हम कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करके प्रसन्नता अनुभव करते हैं ।

वेद

वेद शब्द विद् ज्ञाने धातु से घञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है । घञ् प्रत्यय का अर्थ भाव, कर्म या करण हो सकता है । अतः

ज्ञान, ज्ञेय पदार्थ और ज्ञान का साधन–तीनों ही वेद शब्द के वाच्यार्थ हो सकते हैं। यद्यपि सामान्य यौगिक अर्थ की अपेक्षा से वेद शब्द का प्रयोग ज्ञान के साधनरूप ग्रन्थमात्र के लिए किया जा सकता है, तथापि पंकज, जलद आदि शब्दों के समान श्रेष्ठतम आद्य ज्ञान के आधारभूत ग्रन्थविशेष के लिए ही वह रूढ़ हो गया है। पाणिनि ने अपने धातुपाठ में विद् धातु के अर्थ सत्ता, लाभ और विचारना (विद् सत्तायाम्, विद्लृ लाभे, विद् विचारणे) ये तीन और माने हैं। इन अर्थों में उक्त तीनों प्रत्ययार्थ जोड़ने से वेद शब्द का अर्थ अत्यन्त गम्भीर और व्यापक हो जाता है। लाभ, आनन्द का उत्पादक अथवा आनन्द का ही एक रूप है। ऐसा विचार करने पर सत्ता, ज्ञान और आनन्द (सच्चिदानन्द)–ये तीन जो ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण श्रुतियों में मिलते हैं, वे तीनों वेद शब्दार्थ में आ जाते हैं। अथवा विद् धातु के अर्थों में सत्ता से उत्पत्ति, ज्ञान से जीवन या पालन और लाभ से प्राप्ति या लय का समावेश हो जाता है। इस प्रकार वेद शब्दार्थ में ब्रह्म के लक्षण आ जाते हैं। **जन्माद्यस्य यत:–जिससे सब उत्पन्न हों, जिसके आधार पर सब जीवित रहें और जिसमें सब लीन हों–ब्रह्म का यही लक्षण वेदान्तसूत्रों (१।१।२)** में कहा है। इसलिए वेद का एक पर्याय ब्रह्म है परन्तु लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान के साधनरूप शब्द आज वेद नाम से संसार में प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार व्यवहार में 'वेद' शब्द ग्रन्थविशेष का ही वाचक बन गया है।

वेद पदवाच्य ग्रन्थों के विषय में बहुत काल से विवाद रहा है। वेद की महत्ता के कारण लोगों ने मनमाने साहित्य को वेद नाम से अभिहित किया है। प्राय: लोग केवल मन्त्र-संहिताओं (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद) को ही वेद मानते हैं। किन्तु कुछ लोग वेदों के व्याख्यानरूप ब्राह्मणग्रन्थों का भी उसी में समावेश करते हैं। कुछ अन्य आरण्यक और उपनिषद्-ग्रन्थों को भी वेद में वेद से

जुड़े हैं । शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष-विषयक समस्त ग्रन्थ वेदाङ्गों के अन्तर्गत हैं । विज्ञान और दर्शन-विषयक हमारे महान् ग्रन्थ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा वेद के उपाङ्ग कहाते हैं । आयुर्वेद, धनुर्वेद, अथर्ववेद और गन्धर्ववेद का नाम ही उपवेद है । समस्त उपनिषत् ईशोपनिषदें का विस्तार हैं और स्वयम् ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय ही है । ब्राह्मणादि ग्रन्थ तो हैं ही वेद के व्याख्यान । श्रौत तथा गृह्यादि सूत्र वेद द्वारा निर्दिष्ट कर्मकाण्ड में सहायक हैं । इन मुख्य ग्रन्थों में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सभी विद्याओं का समावेश हो जाता है । व्यक्ति, परिवार, समाज, पशु-पक्षी-पालन, कृषि, सिंचाई, वर्षा, उद्योग-धन्धे, यातायात, ओषधि एवं चिकित्सा-विज्ञान, भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, ज्योतिष, गणितशास्त्र, अन्तरिक्ष-विज्ञान, राजनीति, शस्त्रविद्या, सैन्यसञ्चालन, ऋतुविज्ञान, भूगर्भविद्या, शिक्षा, भाषाविज्ञान आदि एक भी ऐसा विषय नहीं जिसका ज्ञान मनुष्य के वैयक्तिक अथवा सामूहिक तथा ऐहिक अथवा पारलौकिक जीवन के लिए आवश्यक हो और वेद में उपलब्ध न हो ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'वेदों में विज्ञान-विषयक मन्तव्य' का विवेचन करते हुए योगी अरविन्द ने अपने निबन्ध 'Dayanand and the Veda' में लिखा है–

"There is nothing fantastic in Dayanand's idea that Veda contains truths of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Veda contains the other truths of science which the modern world does not at all possess; and in that case, Dayanand has rather under stated than overstated the depth and range of vedic wisdom."

अर्थात् दयानन्द की इस धारणा में कि वेद में धर्म और विज्ञान

दोनों की सच्चाइयाँ पाई जाती हैं, कोई उपहासास्पद या कल्पनामूलक बातें नहीं हैं। मैं इसके साथ अपनी भी धारणा जोड़ना चाहता हूँ कि वेद में विज्ञान की वे सच्चाइयाँ भी हैं जिन्हें आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं जान पाया है। ऐसी अवस्था में स्वामी दयानन्द ने वैदिक ज्ञान की गम्भीरता के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति से नहीं न्यूनोक्ति से ही काम लिया है।

इसके विपरीत भारतीय परम्परागत दृष्टि वेद को सम्पूर्ण ज्ञान की अभिव्यक्ति के रूप में देखती हुई घोषणा करती है **"यद् भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।"** शब्द तत्त्व का वाचक होता है और तत्त्वज्ञान का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है। वेद में समस्त सृष्टि की निर्माणकला का विज्ञान निहित है। जैसे एक शिल्पी किसी यन्त्रविशेष का अथवा एक वैद्य किसी ओषधि का निर्माण करता है और उसके वर्णनात्मक रूप में ग्रन्थ की रचना कर देता है तो दोनों में सामञ्जस्य होने पर यह सिद्ध होता है कि दोनों एक ही व्यक्ति की रचना हैं, वैसे ही वेद ब्रह्म का सिद्धान्त-ज्ञान (Theory) है तो सृष्टि उसकी प्रयोगात्मक (Laboratory) रचना है। दोनों में पूर्ण सामञ्जस्य है।

वेदों के रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन काल से प्रयास होता रहा है। वेदाङ्गों तथा उपाङ्गों आदि का प्रणयन भी इसी उद्देश्य से किया गया। वेदों के व्याख्या-ग्रन्थ भी लिखे गये, तथापि वेदभाष्य का यत्न नहीं किया गया। इसका एक कारण तो यह था कि वेदों के आविर्भाव-काल तथा उसके पश्चात् भी पर्याप्त समय तक वेदों का अध्ययन-अध्यापन बहुत-कुछ मौखिक परम्परा के आधार पर ही होता रहा। ऋषि लोग परम्परा के आधार पर एक-दूसरे को वेदार्थ का ज्ञान कराते रहे। वेदभाष्य न करने का दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि ऋषियों की निश्चित धारणा थी कि **'सर्वज्ञानमयो हि सः'**—वेद सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है, अतः वेद की इयत्ता (चार विभागों

में) नियत होने पर भी उसके अर्थों की इयत्ता का अवधारण नहीं हो सकता । **अनन्ता वै वेदाः** ।–वेद के ज्ञान की इयत्ता नहीं है । तब, अनन्त ज्ञानराशि को सीमित ज्ञानवाला मनुष्य अर्थों में निबद्ध कैसे कर सकता था ? इसलिए वेदार्थ-प्रक्रिया का दिग्दर्शन करानेवाले ग्रन्थ तो लिखे गये, परन्तु समग्र वेदों का भाष्य करके वेदार्थ के निर्धारण का यत्न आर्यों ने नहीं किया । महर्षि यास्क जैसे मनीषी ने वेदार्थ के लिए मार्ग तो प्रशस्त किया, परन्तु स्वयम् एक भी वेद का सम्पूर्ण भाष्य नहीं किया । ब्राह्मणग्रन्थों में वेदार्थ का निर्देश अवश्य मिलता है परन्तु उन्हें वेदभाष्य नहीं कह सकते । अधिक से अधिक उन्हें वेदार्थोपबृहक कहा जा सकता है ।

वेदभाष्य या वेदार्थ की परम्परा का उपक्रम तब हुआ जब लोगों को मौलिक उपदेश द्वारा वेदार्थ को समझने में असमर्थता अनुभव होने लगी । वेदार्थ करनेवाले आचार्यों ने वेद को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा और उसी के अनुसार मन्त्रार्थ किया । यही कारण है कि प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों ने भी वेदमन्त्रों के अलग-अलग अर्थ किये ।

सायण से पूर्ववर्त्ती वेदभाष्यकारों में स्कन्दस्वामी, दुर्गाचार्य, उद्गीथ, हरिस्वामी, उव्वट, वररुचि, भट्टभास्कर, वेंकटमाधव, आत्मानन्द, आनन्दतीर्थ, शत्रुघ्न, माधव, गुणविष्णु, भरतस्वामी, देवपाल तथा आनन्दबोध के नाम उल्लेखनीय हैं । प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से वेदार्थ करने वाले ये भाष्यकार याज्ञिकवाद की कीली के चारों ओर घूमते रहे । त्रिविधप्रक्रिया में अर्थ न करने का इन वेदभाष्यकारों का मुख्य कारण उनकी वेद के सर्वज्ञानमयत्व में निष्ठा का अभाव ही समझना चाहिए । फिर भी, सायण से पूर्ववर्त्ती आचार्यों के वेदार्थ देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यास्कादि आप्त ऋषियों के वेदार्थ के सिद्धान्तों की परम्परा न्यूनाधिक रूप में इन आचार्यों तक बनी रही, परन्तु धीरे-धीरे ह्रासोन्मुख होकर वह लुप्तप्राय-सी हो गई । शताब्दियों तक

समस्त वैदिक साहित्य याज्ञिकवाद के इर्दगिर्द घूमता रहा। सायण के काल तक ऐसी स्थिति हो गई कि आध्यात्मिक तत्त्वों का स्पष्ट निर्देश करने वाले मन्त्रों को भी पकड़-पकड़कर बलात् यज्ञप्रक्रिया में घसीटा जाने लगा। इतना ही नहीं, शतपथ ब्राह्मणादि वेद के व्याख्यान-ग्रन्थों तक में प्रक्षेप कर उन्हें दूषित करने की चेष्टा की जाने लगी। यजुर्वेद के २३वें अध्याय के राजधर्म का प्रतिपादन करनेवाले १९ से ३१ तक के मन्त्रों का इतना अश्लील अर्थ किया गया है कि वैसा करने पर महीधर स्वयं ग्लानि अनुभव कर ३२वें मन्त्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि "इस अश्लील भाषण के कारण जो हमारे मुख दुर्गन्धित हो गये हैं उन्हें यज्ञ से सुगन्धित कर दे।" (**अश्लीलभाषणेन दुर्गन्धप्राप्तानि अस्माकं मुखानि सुरभीणि यज्ञः करोत्वित्यर्थः**)। मन्त्र में न अश्लील शब्द हैं और न मन्त्रों के अर्थों में कोई अश्लीलता है। स्वयं ही पहले जानबूझकर अश्लीलता आरोपित कर दी और स्वयं ही उस अपराध के लिए प्रायश्चित्त की बात कह डाली।

वेद के अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरोक्त होने में हेतु देते हैं–

सर्गादौ प्रादुर्भावाद् ॥१॥

सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भूत होने से (वेद अपौरुषेय हैं)।

किसी भी संगठन, समाज अथवा संस्था का सञ्चालन करने के लिए उसके संविधान का होना अनिवार्य है, अतः संगठन के साथ-साथ ही उसके नियमोपनियम बनाये जाते हैं जिनका पालन करना उससे सम्बद्ध व्यक्तियों के लिए आवश्यक होता है। जब साधारण मनुष्य भी विधि-विधान के बिना कोई संगठन नहीं बनाता तो यह कैसे सम्भव है कि ईश्वर सृष्टि तो बना दे किन्तु जिसके भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना की उस मनुष्य को उस सृष्टि के विषय में किसी प्रकार की जानकारी न दे, सृष्टि के आरम्भ में जब पहले पहल मनुष्य का इस धरती पर आविर्भाव हुआ तो वह सर्वथा अनभिज्ञ था। सृष्टि

में उसे बहुत-कुछ देखने को मिला, किन्तु विविध पदार्थों के न वह नाम जानता था, न उनके गुणदोषों को जानता था और न उनके उपयोग के विषय में उसे कुछ पता था। अपने शरीर तक के सम्बन्ध में वह कुछ नहीं जानता था। वह अकेला नहीं था; बहुतों के साथ था, परन्तु किसके साथ कैसे व्यवहार करे—एतद्विषयक ज्ञान से भी वह सर्वथा शून्य था। ऐसी अवस्था में सृष्टि के रचयिता एवं सञ्चालक परमात्मा का कर्त्तव्य था कि वह मनुष्य को प्रत्येक पदार्थ के नाम, गुण तथा उपयोग के विषय में पूरी-पूरी जानकारी दे और यहाँ रहने के लिए अपेक्षित समस्त नियमों से अवगत करे। स्वयं कट्टर ईसाई होते हुए भी प्रो० मैक्समूलर ने इस युक्ति को अपनी पुस्तक Science and Religion में इस प्रकार व्यक्त किया है—

"If there is a God who has created heaven and earth it will be unjust on his part if he deprives millions of his sons, born before Moses, of his divine knowledge. Resson and comparative study of religions declares that God gives his divine knowledge from his first appearance on earth."

अर्थात् यदि धरती और आकाश का रचयिता कोई ईश्वर है तो उसके लिए यह अन्यायपूर्ण होगा कि वह मूसा से पूर्व उत्पन्न अपने लाखों पुत्रों को अपने ज्ञान से वञ्चित रखे। तर्क और धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन दोनों घोषित करते हैं कि परमेश्वर सृष्टि के आदि में ही अपना ज्ञान मनुष्यों को देता है।

इस प्रकार सृष्टि में चराचर जगत् के सञ्चालन, धारण, पोषण आदि के लिए अपेक्षित विधान का निर्माण करना अनिवार्य था। इसी में उसके विधाता नाम की सार्थकता थी। मनुष्यमात्र के प्रति समान व्यवहार की दृष्टि से यह भी आवश्यक था कि ऐसा विधान सृष्टि के आरम्भ में बने, अतः परमात्मा ने मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही

वेद के रूप में अपेक्षित ज्ञान का प्रकाश किया । **ऋतञ्च सत्यञ्चाभिद्धात्तपसोऽध्यजायत** ।–परमात्मा ने अपने ज्ञानबल से ऋत और सत्य के नाम से सम्पूर्ण विधि-विधान का निर्माण किया। महाभारत (शा० प० २३२।२४) में महर्षि वेदव्यास कहते हैं–

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

सृष्टि के आदि में स्वयम्भू परमात्मा से ऐसी दिव्यवाणी (वेद) का प्रादुर्भाव हुआ जो नित्य है और जिससे संसार की प्रवृत्तियाँ चलीं। वहीं (म० भा० शा० प० २३२।२५, २६) पर आगे लिखा है–

नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः ॥
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः ।
शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विदधात्यजः ॥

यही बात मनुस्मृति (१।२१) में इन शब्दों में कही–

सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आदि में ही दयालु ईश्वर ने वेद का ज्ञान दिया जिसके सहारे मनुष्य ने सृष्टि में रहना सीखा ॥२१॥

सृष्टि के आदि में ही वेदाविर्भाव की अनिवार्यता में युक्ति देते हैं–

ज्ञातृज्ञानयोरविनाभावात् ॥२॥

ज्ञाता और ज्ञान में अविनाभाव सम्बन्ध होने से ।

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एक-साथ रहते हैं । प्रत्येक अवस्था में आत्मा को ज्ञाता स्वीकार किया जाता है । ज्ञाता के मान लेने पर ज्ञेय (चराचर जगत्) भी स्वीकार करना होगा । इन दोनों (ज्ञाता और ज्ञेय) की स्वीकृति से तीसरा ज्ञान स्वतःसिद्ध है । इस प्रक्रिया में ज्ञान, ज्ञाता

का अनुषङ्गी है । इसलिए सृष्टि के आरम्भ में ज्ञाता मनुष्य के आविर्भाव के साथ ही वेदज्ञान का आविर्भाव सर्वथा अनिवार्य एवं स्वाभाविक है । यजुर्वेद (३४।५) में कहा है–

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

अर्थात् मनुष्य की आत्मा में सम्पूर्ण वेदज्ञान विद्यमान है, परन्तु उसकी अनुभूति एवम् अभिव्यक्ति रजोगुण तथा तमोगुण का आवरण हटने और आवश्यक नैमित्तिक साधन उपलब्ध होने पर होती है ॥२२॥

वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में कतिपय अन्य हेतु अगले कुछ सूत्रों में देते हैं–

ईश्वरस्य याथातथ्यतः स्वरूपाभिधानात् ॥३॥

ईश्वर के स्वरूप का यथार्थ वर्णन होने से ।

ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि उसके ज्ञान में उसके गुण, कर्म, स्वभाव का वर्णन वैसा ही होना चाहिए जैसा वह है । यह कैसे सम्भव है कि स्वयं परमेश्वर ही अपना यथावत् वर्णन न करे ? ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है । वेद में ईश्वर का इसी रूप में वर्णन मिलता है । उदाहरणार्थ यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के ८वें मन्त्र में ईश्वर का वर्णन देखा जा सकता है ॥२३॥

सृष्टिक्रमाविरोधात् ॥४॥

सृष्टिक्रम के विरुद्ध न होने से ।

परमात्मा की एक संज्ञा कवि है । उस कवि के दो काव्य हैं–एक शब्दरूप जिसे वेद–चतुष्टय कहते हैं और दूसरा अर्थरूप जिसे जगत् कहते हैं । एक ही काव्य के दो पृष्ठ हैं–एक पर पद अंकित

है और दूसरे पर पदार्थ। पहला न ममार न जीर्यति–अजर और अमर है जबकि दूसरा नित्य परिवर्त्तनशील।

वेद के ईश्वरीय रचना माने जाने में कणाद ने यह तर्क दिया है कि धर्म पद वाच्य पदार्थों के रूप में विस्तृत जगत् जिस प्रक्रिया से अभिव्यक्त किया जाता है उसका विवरण उसी रूप में वेदों में पाया जाता है। यह मान लेने पर कि इस नामरूपात्मक जगत् का रचयिता परमेश्वर है, यह मानना होगा कि उसकी प्रक्रिया को भी वही जान सकता है, न बनानेवाला मानव नहीं। इससे स्पष्ट है कि ईश्वररचित जगत् और उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं का यथायथ वर्णन जिस ग्रन्थ में होगा वही ईश्वर की रचना होगा। जैसे एक शिल्पी किसी यन्त्र का अथवा एक वैद्य किसी ओषधि का निर्माण करता है और उसका विवरण देने के लिए एक ग्रन्थ की रचना करता है, दोनों में सामञ्जस्य होने पर यह सिद्ध होता है कि दोनों एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं, वैसे ही वेद ब्रह्म का सिद्धान्तज्ञान (Theory) है और सृष्टि उसकी प्रायोगिक (Practical) रचना है। इन दोनों में पूर्ण सामञ्जस्य तभी सम्भव है जब दोनों का रचयिता एक हो। विश्व की नामरूपात्मक उभयविध रचना का एकमात्र कर्त्ता ब्रह्म है। नाम शब्द है जो ऋग्वेदादिरूप है और रूप जगदात्मक रचना है; अतः ब्रह्म के बनाये जगत् और उसी के द्वारा प्रादुर्भूत वेद में परस्पर समन्वय आवश्यक है। इसके अनुसार शास्त्र में ऐसा कोई वर्णन नहीं होना चाहिए जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध हो। शास्त्र से सृष्टिरचना का बोध होता है और प्रतिभाशील मानव के द्वारा सृष्टिरचना की जानकारी से शास्त्र की परीक्षा होती है।

जेम्स हेस्टिंग्ज ने अपने सन्दर्भ-ग्रन्थ Encyclopedia of Religion and Ethics में लिखा है– "Swami Dayanand tried to make the book of God resemble the book of nature."

अर्थात् स्वामी दयानन्द ने ईश्वरीय पुस्तक (वेद) को प्रकृति की पुस्तक (सृष्टि) के अनुकूल सिद्ध करने का यत्न किया। वास्तव में यदि वेद और सृष्टि एक ही सत्ता का कार्य हैं तो दोनों में समन्वय होना स्वाभाविक एवम् अनिवार्य है। ऐसा न होना आश्चर्यजनक होगा। यदि भूगोल की पुस्तक का लेखक और उसमें लगे मानचित्र (नक्शे) को बनानेवाला एक ही व्यक्ति हो तो यह कैसे सम्भव है कि मानचित्र में तो दिल्ली को यमुना के किनारे स्थित दिखाये और पुस्तक के पृष्ठों में उसे गंगा के किनारे स्थित लिखे ? संसार में कोई घटना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं घट सकती, भले ही अपनी अल्पज्ञता के कारण हम उसकी व्याख्या न कर सकें।

सृष्टि की रचना और उसका सञ्चालन ईश्वरीय व्यवस्था तथा प्राकृतिक नियमों के अधीन है। वे सभी नियम त्रिकालाबाधित हैं। प्रत्येक पदार्थ के गुण, कर्म, स्वभाव सदा एक से रहते हैं। अभाव से भाव की उत्पत्ति, कारण के बिना कार्य, अग्नि आदि द्रव्यों का अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग, बिना माता-पिता के संयोग के सन्तानोत्पत्ति, बिना फल भोगे कर्म का क्षय, जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति, जीव की सर्वज्ञता, ईश्वर का जीवों की भाँति जन्म-मरण के बन्धन में पड़ना, पृथिवी का चपटी होना आदि सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या हैं।

'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे।'–वेद में जो कुछ है, बुद्धिपूर्वक है। उसमें सृष्टिक्रम के विरुद्ध एक भी वचन नहीं है। अतः इस आधार पर भी वेद का अपौरुषेय होना सिद्ध है।

इंग्लैंड के मनीषी डब्ल्यू डी० ब्राउन ने वेद की इस विशेषता का प्रतिपादन करते हुए अपनी पुस्तक 'Superiority of Vedic Religion' में लिखा है–

"Vedic Religion is thoroughly scientific where

science and religion meet hand in hand. Here theology is based on science and philosophy."

अर्थात् वैदिक धर्म पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म है जहाँ विज्ञान और धर्म दोनों हाथ में हाथ डालकर चलते हैं। यहाँ धार्मिक सिद्धान्त विज्ञान और दर्शन पर आधारित हैं।

लुई जैकॉलियट नामक विद्वान् ने मतमतान्तरों के सृष्टि-उत्पत्तिविषयक मन्तव्यों का अनुशीलन करते हुए लिखा–

"Astonishing fact! The Hindu Revelation, Veda, is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern science."

(The Bible in India, vol. II, ch. 1, by L. Jacolliot)

अर्थात् यह आश्चर्यजनक सच्चाई है कि केवल हिन्दुओं का ईश्वरीय ज्ञान वेद ही है जिसके सृष्टि-रचनाविषयक सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं के अनुरूप हैं।

वैदिक धर्म के सिद्धान्तों और मान्यताओं के वैज्ञानिक आधार के कारण ही भारत में वैसे अत्याचार कभी नहीं हुए, जैसे बाइबल आदि को ईश्वरीय ज्ञान माननेवाले यूरोप में पृथिवी को गोल कहने और अनेक लोकों की सत्ता माननेवाले गैलेलियो और ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों पर हुए, जिनका विस्तृत वर्णन डॉ० विलियम ड्रेपर ने अपनी पुस्तक History of the Conflict between Religion and Science में किया है ॥२४॥

भ्रमप्रमादविप्रलिप्साभावात् ॥५॥

भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा का अभाव होने से वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

मानव का ज्ञान यत्किञ्चित् अज्ञान-मिश्रित रहता है, अतः वह निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। ईश्वर में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की सम्भावना नहीं, अतः साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की आत्मा में सीधे परमेश्वर की प्रेरणा से प्राप्त ज्ञान भी इन दोषों से सर्वथा मुक्त

होना चाहिए। वेद में जो वाक्यरचना है, पद व पदसमूह की आनुपूर्वी है, वह बुद्धिपूर्वक है। वेद के इस रूप में भ्रम, प्रमाद आदि की सम्भावना नहीं हो सकती। निर्भ्रान्त परमेश्वर से प्रादुर्भूत होने के कारण वह निर्भ्रान्त है।

बाइबल का परमेश्वर स्वयं भ्रम प्रमादादि दोषों से आक्रान्त है। इसलिए उसे अपनी भूलों पर पश्चात्ताप होता है। Genesis के छठे अध्याय में परमेश्वर के सृष्टि में मनुष्य को उत्पन्न करने पर पश्चात्ताप का वर्णन है–

"And it repented the Lord that he made man on the earth and it grieved him at his heart. And the Lord said,'I will destroy man whom I have created, from the face of the earth; for it repented me that I have made him.'"

इससे पहले लिखा है–'God made man in his own image' अर्थात् परमेश्वर ने मनुष्य को अपने-जैसा बनाया। जिसे अपने-जैसा बनाया उसे देखकर भी उसे इतना दुःख हुआ कि उसे नष्ट कर देने की घोषणा कर दी। भ्रम, प्रमाद आदि से ग्रस्त होने के कारण ही बाईबल के परमेश्वर को अपने किये पर पछताना पड़ा। ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा करनेवाले प्रायः सभी ग्रन्थ इस प्रकार की बातों से भरे पड़े हैं। यही उनकी मानवीय रचना होने का प्रमाण है। सदसद्विवेक में मनुष्य की अन्तरात्मा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। **सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः**। आदि अनेकत्र उपलब्ध प्रमाणों से मनःसाक्षी की उपयोगिता स्पष्ट है परन्तु उसे पर्याप्त अथवा अन्तिम नहीं माना जा सकता। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न रूप में उत्पन्न संवेदन या अनुभव अच्छे-बुरे वा पाप-पुण्य का एक-समान मापदण्ड निर्धारित नहीं कर सकते, क्योंकि मनुष्य होने के नाते उनके वे अनुभव, भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से मुक्त

नहीं हो सकते । ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण केवल वेद ही इस कसौटी पर खरा उतरता है ॥२५।

वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात् ॥६॥

वृद्धि, क्षय और विपर्यय न होने से ।

पूर्ण एवं नित्य परमेश्वर से प्रादुर्भूत ज्ञान भी नैसर्गिक ज्ञान का बोधक होने से पूर्ण व नित्य होना चाहिए । आदिकवि सर्वज्ञ एवं मनीषी है, अतः सर्ग के आरम्भ में समूचे ज्ञान का एकसाथ आविर्भाव होना ही तर्कानुमोदित है । परमेश्वर के एकरस होने से उसका ज्ञान भी एकरस या अपरिवर्त्तनशील होगा । यदि उसे समय-समय पर बदलते रहना पड़े तो ईश्वर में अज्ञान तथा अपूर्णता का आरोप सिद्ध होगा । समय-समय पर मन्त्र-प्रकाश या आयत नाजिल होने रहने की बात उसे मनुष्य जैसा अल्पज्ञ बना-देगी । मनुष्यों की समय-समय की आवश्यकताओं और तदनुसार अपनी भूलों के परिमार्जन पर ही यह कल्पना आश्रित है, परन्तु अल्पज्ञों का उदाहरण सर्वज्ञ पर नहीं घटाया जा सकता । मनुष्यों की संसत् तथा विधान-सभाएं नई-नई परिस्थितियों से निपटने के लिए अपने बनाये कानूनों में संशोधन-परिवर्तन करती रहती हैं—पुराने कानूनों को निरस्त कर नये कानून बनाती रहती हैं । यह सब जीव की अल्पज्ञता के कारण होता है । त्रिकालदर्शी होने से परमेश्वर को परिस्थितियों के अनुरूप अपने नियमों में परिवर्तन नहीं करना पड़ता । मनुस्मृति (१२।९६) में लिखा है—

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥

वेद से भिन्न अनेक ग्रन्थ बनते हैं और नष्ट होते रहते हैं । वे सब अर्वाक्काल (प्राचीन परम्परा के विपरीत) होने से निष्फल और मिथ्या होते हैं, परन्तु **पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति** ।—परमेश्वर का काव्य वेद न कभी पुराना पड़ता है और न नष्ट होता है ।

वेद के सिद्धान्तों में कालभेद से किसी प्रकार का उलटफेर नहीं करना पड़ता । मनुष्य का ज्ञान बदलता रहता है । भूल प्रतीत होने पर वैज्ञानिकों को स्वयम् अपनी मान्यताएँ बदलते देखा गया है । बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ताओं ने कठोर परिश्रम करके वर्षों के अनुसन्धान के फलस्वरूप जो सिद्धान्त स्थिर किये, उन्हें आगे आनेवाले वैज्ञानिकों ने बदल डाला। डार्विन के विकासवाद अथवा फ्रायड के मनोविश्लेषण का आज वह स्वरूप नहीं रहा जो मूलतः उन्होंने निर्धारित किया था । यही अवस्था आईन्स्टीन के सापेक्षवाद की है । परन्तु ईश्वर में भ्रमादि दोषों के न होने से उसके ज्ञान वेद में आज तक कोई भूल नहीं निकली । जहाँ-जहाँ आधुनिक विज्ञान ने वैदिक सिद्धान्तों से मतभेद दिखाकर संघर्ष किया, वहाँ-वहाँ आधुनिक विज्ञान को ही घूम-फिरकर वैदिक सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ा । इसके अनेक उदाहरण हैं । दृष्टान्तरूप में यहाँ दो-चार ही उपस्थित किये जाते हैं–

१. आधुनिक विज्ञान ने पहले अपने कल्पित ऑक्सीजन, हाइड्रोजन आदि को मूलतत्त्व माना । अन्वेषण से उनकी संख्या बढ़ती गई–६५, ९३…… । किन्तु अब विज्ञान के मत में शताधिक तत्त्व मौलिक नहीं, जन्य हैं । मौलिक तत्त्व तो तीन ही रह गये–इलेक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन जो हमारे सत्त्व, रजस् व तमस् के ही अपर नाम हैं ।

२. सृष्टि की अब तक की आयु के विषय में भी मतभेद रहा । वेदोक्त युगप्रक्रिया के अनुसार सृष्टि कुछ न्यून दो अरब वर्ष पुरानी मानी जाती है । पाश्चात्यों के धर्मग्रन्थ इसे केल ५००० वर्ष पुरानी बताते थे । विज्ञान भी पहले इसकी आयु बहुत थोड़ी बताता था, परन्तु भूगर्भ-विज्ञान ने उसकी आँखें खोल दीं । अब पाश्चात्य वैज्ञानिक भी क्रमशः दो अरब वर्ष तक पहुँच गये हैं, किन्तु भारतीय शास्त्रों की भाँति वे वर्ष, मास, दिन आदि की पूरी-पूरी गणना अभी तक नहीं कर पाये । उसमें अभी न जाने कितना समय लगेगा।

३. वैदिक विज्ञान 'शब्द' को आकाश का गुण मानता है। पाश्चात्य विज्ञान अब तक उसे वायु का गुण सिद्ध करने में लगा रहा, परन्तु रेडियो के आविष्कार ने उसकी थ्यूरी बदल दी। आज वे मान गये कि जितने काल में जितनी दूर शब्द पहुँचता है, वायु की गति उतनी नहीं। अब शब्द को ईथर या स्पेस का गुण माना जाने लगा है। ईथर और स्पेस दोनों ही हमारे यहाँ आकाशतत्त्व के अन्तर्गत हैं।

४. वृक्ष, लता आदि को विज्ञान पहले चेतन नहीं मानता था। वेदादिशास्त्र सदा से इन्हें चेतन मानकर जीव की भोगयोनि मानते रहे हैं। स्वनामधन्य जगदीशचन्द्र वसु ने वैज्ञानिक परीक्षणों से वृक्षादि में प्राणसत्ता सिद्ध कर वैदिक विज्ञान को मान्यता प्रदान की।

५. पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने सूर्यमण्डल में रहनेवाले कालेपन को अभी-अभी जाना है, परन्तु वैदिक विद्वान् वेदों के माध्यम से इस रहस्य को आदिकाल से ही जानते हैं। आदित्य-मण्डल के मध्यभाग में कालापन होने से ही वेदों में आदित्य को बहुधा कृष्ण नाम से पुकारा गया है। जैसे **कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्।** (ऋग्वेद १।७९।२)। यहाँ कृष्ण पद से आदित्यरूप अग्नि का निर्देश है। जैमिनिब्राह्मण में कहा है—**असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इत्याधिदैवतम्।** (जै० ब्रा० २।२८) अर्थात् जो यह तपता है, वह संवत्सर है। उसमें जो प्रकाश करनेवाला भाग है वह संवत् है और जो बीच में कृष्ण भाग है वह सर है। आदित्य-मण्डल में रहनेवाले ये काले धब्बे चलते रहने से सर्प कहाते हैं। इन सर्पों के कारण ही ताण्ड्य ब्राह्मण (२५।१५।४) में '**सर्प्पा वा आदित्याः**' कहा है ॥२६॥

सर्वज्ञानमयत्वात् ॥७॥

सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार होने से।

वेद के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं। पाश्चात्त्य दृष्टिकोण के

अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की प्रारम्भिक चेतना की अटपटी उक्तियाँ हैं। उनमें न परस्पर कोई संगति है और न सुलझे हुए विचारों की स्थापना। वे धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पोथे हैं जिनका अधिकांश बुद्धिगम्य नहीं है। मानव-जाति के सीखतड़ बच्चे जिस आश्चर्य से जगत् को देखते हैं उसी की छाया वेदमन्त्रों में है। इसी सूत्र को पकड़कर पिछले सौ, सवा सौ वर्षों में वेदों के अनेक भाष्य और व्याख्या-ग्रन्थ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गये। अपने देश में भी उनके मानस-पुत्र वैदिक विद्वान् इन्हीं अर्थों में रुचि लेते हैं। उनके लिए ब्राह्मणग्रन्थों में की गई वेद की व्याख्या अधिकांश में अनास्था की वस्तु है। इसके विपरीत भारतीय परम्परागत दृष्टि वेद को सम्पूर्ण ज्ञान की शब्दमयी अभिव्यक्ति के रूप में देखती हुई घोषणा करती है–

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति । मनु० १२।९७

भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान का आधार वेद है। सायणाचार्य ने अपने 'तैत्तिरीय संहिता'-भाष्य के उपोद्घात में कहा–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ॥

अर्थात् प्रत्यक्ष से वा अनुमान से जो अर्थ नहीं जाना जाता है वह वेदों से अवश्य जाना जाता है। यही वेदों का वेदत्व है।

इस प्रकार सब तरह के अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि का स्रोत वेद है। जब ईश्वर सर्वज्ञ है और वेद उस सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा मानवमात्र के कल्याणार्थ प्रदत्त ज्ञान है तो वह उसके लिए अपेक्षित पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। उसकी अपूर्णता स्वयं वेदत्व का ही विघात करेगी। मनु का तो स्पष्ट मत है–**स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ।** (मनु० २।७) अर्थात् वेद में सब धर्म अर्थात् नियमों का प्रतिपादन किया है, क्योंकि वेद सम्पूर्ण ज्ञान का कोष है। दूसरे शब्दों में समस्त विद्याएँ

व ज्ञान वेद में हैं। वेद को सर्वज्ञानमय तभी कहा सकता है जब वह सब विद्याओं का भण्डार हो। यास्काचार्य ने वेद की विशेषता बताते हुए कहा—**पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे**। (निरुक्त १।२)—अल्पज्ञ होने से मनुष्य की विद्या तो अनित्य है, परन्तु नित्य परमेश्वर का ज्ञान होने से वेद सम्पूर्ण कर्मों का बोधक है। आज हम भले ही इस बात को सर्वांश में सिद्ध न कर सकें, परन्तु वेद में समस्त विद्याएँ होनी चाहिएँ, इसका बाध तो कोई नहीं कर सकता।

वाचस्पति मिश्र ने वेद को लौकिक और पारलौकिक सुख के साधनों का मूल बताते हुए लिखा—

तथा **चाभ्युदयनिःश्रेयसोपदेशपरोऽपि वेदराशिरीश्वर-प्रणीतस्तद्बुद्धिसत्त्वप्रकर्षादेव भवितुमर्हति**।

शास्त्रयोनित्वात्—वेदान्तदर्शन के इस सूत्र (१।१।३) की व्याख्या में स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थाविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म।

अर्थात् अनेक विद्याओं से परिपूर्ण प्रदीप के समान सब पदार्थों का प्रकाश करनेवाले महान् ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण ब्रह्म ही है।

याज्ञवल्क्य स्मृति का वचन है—

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्॥

'समस्त शास्त्रों का मूल वेद है'—याज्ञवल्क्य स्मृति का यह वचन अक्षरशः सत्य है। वैदिक वाङ्मय के जितने भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, सभी किसी न किसी रूप में वेद पर आधारित हैं।

उतनी बेहूदा भाषा का प्रयोग नहीं मिलेगा—वैसा अर्थ तो मन्त्रों को तोड़-मरोड़कर भी नहीं हो सकता। ऐसी हालत में महीधर के

अर्थों को तभी माना जा सकता है जब हमारा इरादा ही वेदों के विरुद्ध घृणा फैलाना हो। महीधर के अर्थ को पढ़कर ही चार्वाकों को कहना पड़ा–

त्रयो वेदस्य कर्त्तारः भाण्ड-धूर्त्त-निशाचराः।
जर्फरी-तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥
अश्वस्यास्य शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यं जातं प्रकीर्तितम्।
मांसानां खादनं तद्वद् निशाचरसमीरितम्॥

महीधर का किया अर्थ इसलिए त्याज्य नहीं कि वह अश्लील है, अपितु इसलिए कि मन्त्रों का वह अर्थ है ही नहीं।

शतपथब्राह्मण में भी वैसा ही अर्थ उपलब्ध है, परन्तु शतपथब्राह्मण में ही अन्यत्र इस मन्त्र का अत्यन्त शुद्ध, युक्तियुक्त एवम् उपादेय अर्थ भी उपलब्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि मांसभक्षण, मदिरापान, पशुबलि, गुप्तेन्द्रिय-पूजन आदि आसुरी प्रवृत्तियों का ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रक्षेप कर दिया गया और उन्हें वेद की संज्ञा देकर अपनी मान्यताओं की वेद के नाम पर पुष्टि कर दी गई। क्या वेद इसी प्रकार के कुकृत्यों का प्रतिपादन करता है? यदि उसका उत्तर 'हाँ' में है तो बुद्ध जैसे पवित्र हृदय महात्मा के स्वर में स्वर मिलाकर लोग यही कहने को विवश होंगे कि हम ऐसे वेदों को नहीं मानते परन्तु इस में वेद का दोष नहीं है। दोष उस ऐनक का है जिसमें से देखने पर सब हरा ही हरा दिखाई पड़ता है।

सायणाचार्य ने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की परम्परा का परित्याग कर वेदमन्त्रों का केवल याज्ञिकप्रक्रियापरक ही अर्थ किया। कर्मकाण्ड की भँवर में फँसा रहने के कारण उसने वेदार्थविषयक मूलभूत सिद्धान्तों की अवहेलना करके वेद के आशय को बलपूर्वक कर्मकाण्ड के संकुचित साँचे में ढालने की चेष्टा की जिससे प्रभु की पवित्र वेदवाणी

का गौरव जाता रहा। अत्यन्त हृदयग्राही सन्तप्त हृदयों की आन्तरिक ज्वाला को शान्त कर आत्मसमर्पण द्वारा प्रभु-प्रेम में असीम निष्ठा का अद्‌भुत दृश्य उपस्थित करनेवाला ऋग्वेद (१।१।३) का मन्त्र है–

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः॥

हे प्रियतम देव! शरणागत का कल्याण करना तुम्हारा अटल नियम है।

मन्त्र के इस भावपूर्ण अर्थ का दर्शन न करके सायण यजमान के लिए **'वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणम्'** की प्रार्थना करते हैं, और वह भी जड़ भौतिक अग्नि से। वस्तुतः यज्ञविषयक उपर्युक्त मिथ्या धारणा ने सायण को वेदमन्त्रों के यथार्थ तक पहुँचने ही नहीं दिया। महीधर आदि का भाष्य वाममार्ग के रंग में रंगा है। इन भाष्यों को पढ़ने के बाद किसी की वेद में श्रद्धा नहीं रह सकती और पढ़नेवाला कभी नहीं मान सकता कि वेद परमेश्वर की बुद्धिपूर्वक रचना है। (**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**।–वै० द०) या उसमें उत्कृष्ट भावनाओं, उच्च आदर्शों या ज्ञान-विज्ञान का प्रतिपादन है। वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न करके संसार को वेद से विमुख करने में सब से बड़ा हाथ सायण का रहा है। सायण का नाम बार-बार इसलिए भी आता है कि वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों पर सब से अधिक भाष्य सायणाचार्य के ही हैं। उन्हीं को लेकर आगे लोगों ने अनुवादादि का कार्य किया।

जैसे हम वेदों को कण्ठस्थ करनेवाले दाक्षिणात्य पण्डितों के ऋणी हैं, वैसे ही हम पाश्चात्य विद्वानों के भी ऋणी हैं। भारतीय ब्राह्मणों ने वेदों को नष्ट होने से बचाया तो पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को भारत में ही सीमित न रहने देकर विश्व की सम्पत्ति बना दिया। यूरोपीय विद्वानों के प्रयत्न से सारे संसार में वेदों की चर्चा होने लगी। किन्तु जैसे सायणादि का दृष्टिकोण यज्ञपरक था और उनके अनुसार वेद के

हर मन्त्र का लक्ष्य यज्ञ की किसी प्रक्रिया को सामने रखकर मन्त्र का नियोजन करना था, वैसे पाश्चात्य भाष्यकारों का लक्ष्य वेदों का भाष्य करते हुए उन पर विकासवादी दृष्टिकोण से विचार करना था। मैक्समूलर के भाष्य पर सायण और डार्विन दोनों छाये हैं। मैक्समूलर ने विकासवाद को सामने रखकर सायण-भाष्य का अनुवाद किया। वस्तुतः पाश्चात्य भाष्यकारों की विचारधारा का आधारभूत सिद्धान्त विकासवाद का विचार है। इन लोगों के लिए विकासवाद का सिद्धान्त पहले है, उसके बाद जो कुछ आया उसे विकासवाद के सिद्धान्त पर घटाकर देखने का प्रयास किया जाता है। विकासवाद की कसौटी पर रखकर ही ये लोग किसी बात के सही या गलत होने का निश्चय करते हैं।

मेकाले की शिक्षानीति पर आधुनिक सन्दर्भ में टिप्पणी करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने लिखा है–

"The policy inaugurated by Macaulay is so careful as not to make us forget the force and vitality of Western culture, it has not helped us to love our own culture. In some cases Macaulay's wish is fulfilled and we have educated Indians who are 'more English themselves' to quote Macaulay's own words."

आशय यह है कि मेकाले की शिक्षानीति के अनुसार शिक्षित भारतीय स्वयम् अंग्रेजों की अपेक्षा अधिक अंग्रेज हो गये हैं।

राजा राममोहन राय ने मैकाले की शिक्षा-नीति का समर्थन ही नहीं किया, अपितु सन् १८२२ में स्वयम् एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की। इतना ही नहीं, "सन् १८२३ में गवर्नर जनरल लार्ड एमरहर्स्ट को पत्र लिखकर कलकत्ता में बंगाल सरकार द्वारा स्थापित किये जा रहे संस्कृत कॉलिज को अनावश्यक तथा भारतीयों की उन्नति में बाधक भी बताया।"

—आर० एन० सरकार—राजा राममोहन राय, पृष्ठ २४, २५

राजा राममोहन राय का मन्तव्य था–"Though a foreign yoke the British rule would lead more speadily and surely to the amelioration of the native inhabitants."

एक सार्वभौमिक और सार्वकालिक सिद्धान्त है–"Good government is no substitute for self-government" अर्थात् सुराज्य भी स्वराज्य का विकल्प नहीं होता। फिर अंग्रेज तो भारत में व्यापारी ही बनकर आये थे। व्यापार के लिए उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की थी। धीरे-धीरे यही कम्पनी भारत में अंग्रेजी शासन का आधार बन गई। उसकी अपनी सेना थी। इस सेना और भारतीय रियासतों के परस्पर संघर्ष के फलस्वरूप वह देश पर अपना अधिकार करती गई। १८४९ में पंजाब पर विजय के साथ उसका अभियान पूरा हो गया और समूचे भारत पर यूनियन जैक फहराने लगा परन्तु विज्ञान का नियम है–'To every action there is an equal and opposite reaction अर्थात् प्रत्येक क्रिया की उतनी ही जोरदार और विरोधी प्रतिक्रिया होती है। भारतीयों के भीतर विद्रोह की आग सुलगने लगी। यह १० मई १८५७ को ज्वाला बनकर भड़क उठी और देश के कोने-कोने में फैल गई, परन्तु कुछ ही दिनों में यह आग ठण्डी पड़ गई। ठण्डी पड़ जाने पर भी यह बुझी नहीं। उस क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी। अब ब्रिटिश सरकार ने कूटनीति का सहारा लिया और महारानी विक्टोरिया ने एक घोषणापत्र (Proclamation) जारी किया। उसकी भाषा बड़ी लुभावनी थी। उसमें कहा गया था–

When by the blessings of Providence, intemal tranquility shall be restored, it is our earnest desire to stimulate the peaceful industry in India, to promote works of public utility and improvement and to administer its Govemment for the benifit of all our

subjects residents therein. In their prosperity will be our strength, in their contentment our security and in their gratitude our best reward.

Finally, relying ourselves on the truth of Christianity and acknowledging with gratitude the solace of religion. we disclaim alike the right and the desire to impose our convictions on any of our subjects. We declare it to be our royal will and pleasure that none be anywise favoured none molested and disqualified by reason of their religions faith and observence, but that all shall alike enjoy the equal and impartial protection of the laws, and we do strictly charge and enjoin all those who may be in authority under us that they abstain from all inteference with the religious belief or worship of any of our subjects on pain of our hightest displeasure."

"अर्थात् जब ईश्वर की कृपा से आन्तरिक शान्ति स्थापित हो जाएगी, तब हमारी तीव्र इच्छा है कि हम भारत में शान्तिपूर्ण उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दें, जनोपयोगी और उन्नति के कार्यों को आगे बढ़ाएँ और अपनी सारी प्रजा के हित की दृष्टि से काम करें। उनकी समृद्धि ही हमारी शक्ति होगी, उनकी सन्तुष्टि ही हमारी सुरक्षा होगी और उनकी कृतज्ञता ही हमारा सर्वोत्तम पुरस्कार होगा।

यद्यपि ईसाइयत में हमारा पूर्ण विश्वास है और धर्म द्वारा मिली शान्ति को हम स्वीकार करते हैं, फिर भी हम अपनी प्रजा पर अपने विश्वासों को थोपना नहीं चाहते। हम अपनी यह शाही इच्छा घोषित करते हैं कि अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण किसी के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाएगा। इसके विपरीत सब को समान रूप से कानून का निष्पक्ष संरक्षण प्राप्त होगा। और अपने अधीनस्थ समस्त कर्मचारियों को हम चेतावनी देते हैं कि यदि किसी ने हमारी प्रजा के धार्मिक विश्वासों और पूजा-पद्धति में हस्तक्षेप किया तो उसे

हमारे तीव्र कोप का शिकार होना पड़ेगा ।"

महारानी विक्टोरिया की यह घोषणा किसी को भी बहकाने के लिए पर्याप्त थी, परन्तु स्वामी दयानन्द की प्रखर दृष्टि ने इसके निहितार्थ को भाँप लिया और इसका प्रतिवाद करते हुए सत्यार्थप्रकाश में लिखा–

"कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है ।"

स्वामी दयानन्द के इस कथन में महारानी विक्टोरिया की घोषणा का तुर्की ब तुर्की जवाब है ।

८. ऐसे समय में सन् १८२५ में दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ । उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से इस देश की समस्याओं पर विचार किया । उन्होंने समझ लिया कि रोगीवृक्ष के पत्तों को सींचने से वृक्ष नहीं पनप सकता । उसकी जड़ों में रोगनाशक दवाइयों का प्रयोग कर अपेक्षित खाद-पानी देने से ही वह फलीभूत होगा । विचार के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस देश, जाति और समाज की दुर्दशा का मूलकारणं वेदविद्या के प्रचार के अभाव में देश में व्याप्त अविद्यान्धकार है । इसलिए जब तक वेदों का उद्धार करके उनको अपने वास्तविक रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाएगा तब तक अविद्यान्धकार दूर नहीं होगा । वेदों को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए दयानन्द को भारतीय अवैदिक मत-मतान्तरों के अनुयायियों, विदेश से आयातित अर्थ व बलपूर्वक आरोपित मतों (इस्लाम और ईसाइयत) पाश्चात्य और तदनुयायी भारतीय विद्वानों द्वारा फैलाई गई विविध भ्रान्त धारणाओं से एक-साथ लड़ना पड़ा । वस्तुतः स्वामी दयानन्द भारतीय पुनर्जागरण (रिनेसेंस) के अग्रदूत थे । फ्रांस के महान् लेखक रोम्याँ

रोलाँ ने लिखा है–

"This man with the nature of a lion is one of those whom Europe is apt to forget when she judges India, but whom she will probably be forced to remember to her cost; for he was that rare combination, a thinker of action wih a genius for leadership. He was a hero with the athletic strength of Herculese who thundered against all forms of thought other than his own. the only true one. He was so succssful that in five years the whole of Northern India was completely changed. He possessed unrivlled knowledge of Sanskrit and the Vedas Never since Shankara had such a prophet of Vedism appeared. Dayananda was not a man to come to understanding wih religious philosophers imbued with Western ideas."

'यह सिंह-सदृश प्रकृतिवाला मनुष्य उनमें से एक था जिसे यूरोप प्रायः उस समय भुला देता है जब वह भारत के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाता है, किन्तु एक न एक दिन विवश होकर उसे अपनी भूल मानकर दयानन्द को स्मरण करना होगा, क्योंकि उसमें कर्मयोगी, चिन्तक तथा नेतृत्व के लिए अपेक्षित प्रतिभा का दुर्लभ मिश्रण था। शारीरिक बल में वह हरकूलीस के समान शक्तिशाली था जो सत्य के विपरीत हर प्रकार के विचार के विरुद्ध गर्जता था। अपने प्रयास में वह इतना सफल हुआ कि पाँच वर्ष के भीतर सारा उत्तर भारत पूरी तरह बदल गया। संस्कृत और वेदों के ज्ञान में उस से बढ़कर कोई नहीं था। शंकर के बाद दयानन्द के समान वेदों का प्रवक्ता दूसरा नहीं हुआ। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित किसी धार्मिक या दार्शनिक विचारधारावालों से उसने कभी समझौता नहीं किया।'

Previously prohibited by orthodox Brahmanas,

but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya."

अर्थात्, भारत के इतिहास में वह दिन सचमुच युगान्तरकारी था जब एक ब्राह्मण ने मनुष्यमात्र को वेदाध्ययन का अधिकार ही घोषित नहीं किया, जिस पर पहले कट्टरपन्थी ब्राह्मणों ने रोक लगा रक्खी थी, अपितु प्रत्येक आर्य के वेदाध्ययन करने और वेद का प्रचार करने को अपना कर्तव्य समझने पर बल दिया।' इस प्रकार जहाँ तक वेद का सम्बन्ध है, स्वामी दयानन्द का स्थान हर दृष्टि से शंकराचार्य से कहीं ऊँचा है। दयानन्द ने जो किया शंकर उसका दशांश भी नहीं कर पाये।

९. स्वामी दयानन्द के अनुसार मन्त्रसंहिताओं को छोड़कर सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय परतःप्रमाण है; केवल चार संहिताएँ ही स्वतःप्रमाण हैं। वेदार्थप्रक्रिया में भी दयानन्द का अपना विशिष्ट योगदान है। वेद के सभी शब्दों को उन्होंने यौगिक या योगरूढ़ माना है। कोई भी शब्द रूढ़ या यदृच्छा-रूप नहीं है। प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा निर्दिष्ट त्रिविध प्रक्रिया को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने वेदमन्त्रों का व्यावहारिक अर्थ करके वेदों को सर्वजनोपयोगी रूप में प्रस्तुत किया। वेदों के सर्वज्ञानमयत्व और **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'**, आदि वचनों को सार्थक करने वाला वेदों का एकमात्र भाष्य दयानन्द-कृत ही है। इसके निदर्शनार्थ उनहोंने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' की रचना की। इस अद्भुत ग्रन्थ के अध्ययन का यह परिणाम हुआ कि जिस मैक्समूलर ने सन् १८६६ में स्वरचित 'चिप्स् फ्रॅम ऐ जर्मन वर्कशॉप' में लिखा था कि 'वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या बिल्कुल बचकानी, जटिल, निकृष्ट और अत्यन्त साधारण है', उसी ने सन् १८८२ में 'भारत से हम क्या सीखें ?' में लिखा, 'वेद में जैसी भाषा पाई जाती है, उसमें जैसा जीवनदर्शन है और जैसे धर्म का दर्शन होता है, उससे जो दृश्यावली

दृष्टिगत होती है, वर्षों में तो उसे कोई माप नहीं सकता। वेद में ऐसी भावनाओं का प्रकाश हुआ है जो हम यूरोपियनों को १९वीं शताब्दी में आधुनिक प्रतीत होती हैं। मानव-विचारधारा के इतिहास के विषय में जो जानकारी हमें वेदों से मिलती है वह वेदों की खोज से पूर्व हमारी कल्पना से परे थी।' (पृ० १३०)

पाश्चात्य विद्वान् स्वार्थों से अभिभूत होने के कारण जानबूझ कर गलत अर्थ कर करके हमारी अस्मिता पर प्रहार कर रहे थे। ऐसी स्थिति में दयानन्द का दायित्व था कि उन विकृतियों का खण्डन करते हुए अपने भाष्य के द्वारा मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए वेदों को मनुष्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान के भण्डार के रूप में प्रस्तुत करें। इस प्रकार का प्रयास आज तक पहले कभी नहीं हुआ था। दयानन्द अपने जीवन के स्वल्पकाल-मात्र तेरह वर्ष में केवल यजुर्वेद का तथा ऋग्वेद के दो तिहाई भाग का ही भाष्य कर सके। किन्तु जैसे कि श्री अरविन्द ने लिखा है वे ऐसी लीक डाल गये जिसका अनुसरण करते हुए भावी विद्वान् वेदों को उनके वास्तविक स्वरूप में संसार के सामने प्रस्तुत कर सकेंगे।

दयानन्द के भाष्य की प्रामाणिकता

दयानन्द ने अपने वेदभाष्य को अपने हाथों से न लिखकर कुछ उच्चकोटि के विद्वानों द्वारा लिखवाया था। उन लेखकों में पं० ज्वालादत्त शर्मा और पं० भीमसेन शर्मा मुख्य थे। वेदों के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् तथा गुरुकुल कांगड़ी के आरम्भिक काल के वेदाध्यापक आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ की एक बार पं० ज्वालादत्त शर्मा से भेंट हुई। आचार्य जी ने पं० ज्वालादत्त जी से पूछा-स्वामी जी वेदों का भाष्य कैसे करते थे। श्री ज्वालादत्त जी ने बताया-"प्रातःकाल नित्यकर्मों से निवृत्त होकर हम सब एक स्थान पर बैठ जाते, तब स्वामी जी आते और हम से

कहते कि अगला मन्त्र पढ़ो। हम में से कोई एक, प्रायः मैं अगला मन्त्र पढ़ता। स्वामी जी महाराज कहते इस मन्त्र पर निरुक्त में क्या लिखा है। फिर पूछते सायण ने इस मन्त्र पर किस प्रकार अर्थ किया है। तब वे बराबर की कोठरी में चले जाते और कुछ देर समाधिस्थ रहकर बाहर आते और कहते–लिखो तब वे जो बोलते हम लिख देते। सम्पूर्ण भाष्य उन्होंने इसी प्रकार लिखाया।"

किसी वक्ता के कथन को जितना स्वयं वक्ता समझता है उतना अन्य कोई नहीं समझ सकता। 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः' वेद के इस वचन के अनुसार वेद ईश्वर की वाणी है उसके अर्थ को जितना वह जानता है उतना कोई नहीं जान सकता। अतः समाधि अवस्था में ईश्वर के साक्षात्कार द्वारा मन्त्र के जिस अर्थ का दयानन्द ने निश्चय किया उससे अधिक प्रामाणिक अर्थ दूसरा नहीं हो सकता। सम्भवतः इसी कारण श्री अरविन्द ने दयानन्द के वेदभाष्य के आधार पर यह कहने का साहस किया कि आज का विज्ञान जिन बातों को जानता है उनके अतिरिक्त दयानन्द के वेदभाष्य से ज्ञान-विज्ञान की उन बातों का भी पता चलता है जिन्हें आज का विज्ञान अभी तक नहीं जानता।

कहां तक लिखें किसी कवि के दयानन्द के प्रति श्रुतिपरक एक श्लोक को लिखकर हम अपनी लेखनी को विराम देते हैं–

कः पद्मिनीनां वद तिग्मदीधितिः,
धर्मः परः कः कविवाचि कः स्थितः।
का कण्ठभूषा न यमाद् बिभेति कः,
स्वामी दयानन्दसरस्वती यमी॥

***

ब्रह्मचर्य की शक्ति

दयानन्द जी ने सनातनी हिन्दुओं का खण्डन किया; जैनों और बौद्धों का खण्डन किया; मुसलमानों और ईसाइयों का खण्डन किया। वह जिसके घर ठहरते थे, उसी के दोष दिखाना शुरू कर देते थे। लोग कहते–'आप यह क्या करते हैं ? जो आपका आतिथ्य और सेवा करता है, आप उसी की बुराइयां बताना शुरू कर देते हैं ।'

'उसका मुझ पर प्रेम है, इसीलिए वह मेरा आतिथ्य करता है। मेरा उस पर प्रेम है, इसलिए मैं उसके दोष उसे दिखाता हूं जिससे वह उन्हें दूर कर ले। इसमें अनुचित क्या है ।'

ब्रह्मचर्य की शक्ति

एक दिन स्वामी जी ने राव कर्णसिंह से पूछा–'राव महाशय, आपके भाल पर यह रेखा सी क्या है ? राव महाशय ने उत्तर में कहा 'यह श्री है। जो इस श्री को धारण नहीं करता वह चाण्डाल है। 'आप कब से वैष्णव हुए हैं ? कुछ बरसों से क्या आपके पिता भी वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे ?'

नहीं, वे नहीं हुए ।

तब तो आप ही के कथनानुसार आपके पिता और कुछ वर्षों के पूर्व आप भी चाण्डाल सिद्ध हो गये ।

इस बात पर राव महाशय को क्रोध आ गया और वे तलवार पर हाथ रखकर बोले–'मुंह सम्भालकर बोलो ।' उनके साथी दस बारह जन भी शस्त्र-सन्नद्ध थे, इसलिए टीकाराम भयभीत हो गये । परन्तु

स्वामी जी ने उसे कहा, डरते क्यों हो ? कोई चिन्ता की बात नहीं । हम ने ज़ो कुछ कहा है सत्य कहा है ।'

उधर राव महाशय छड़ी से छेड़े हुए नाग की भांति कोपावेश में बल खा रहे थे । उनकी आंखों में लहू उतर आया । चेहरा क्रोधानल से लाल हो गया, उसने स्वामी जी पर कुवचन-वर्षा की झड़ी सी लगा दी परन्तु स्वामी जी हँसते हुए कहने लगे; राव महाशय ! यदि शास्त्रार्थ करना अभीष्ट है तो वृन्दावन से रंगाचार्य जी को बुलाइये । उसमें जो हार जाय वह दूसरे के सिद्धान्त को स्वीकार करेगा, यह प्रतिज्ञा हो जानी चाहिये ।" राव महाशय ने कोप से कड़ककर कहा कि तुम रंगाचार्य से क्या वादविवाद कर सकते हो ? तुम्हारे जैसे जन तो उनकी जूतियां झाड़ते हैं । इत्यादि बातों के साथ राव महाशय गाली भी प्रदान करते जाते थे और बायें हाथ से थामे हुए खड्ग कोश की मुट्ठी पर बार बार दाहिना हाथ रखते थे । इस पर स्वामी जी ने हंसते हुए कहा कि "राव महाशय ! खड्ग को बार-बार क्यों सञ्चालन करते हो ? शास्त्रार्थ करना हो तो अपने गुरु जी को यहां ले आइए, हम **कटिबद्ध** हैं । परन्तु यदि आपको शस्त्रार्थ करने का चाव है तो संन्यासी **से** क्यों टकराते हो ? जयपुर जोधपुर से जा भिड़ो ।"

फिर क्या था, राव महाशय आपे से बाहर हो गये । उनकी आंखों से चिङ्गारियाँ छूटने लगीं । हाथों की मुट्ठियां ऐंठ गईं । होठ फड़क उठे । भीषण रूप धारण करके, वे उचितानुचित का कोई विचार किये बिना मुख से खरी-खोटी बातें सुनाते, खड्ग हस्त, स्वामी जी की ओर लपके । स्वामी जी ने 'अरे धूर्त' कहते हुए उन्हें हाथ से ढकेल दिया । इससे राव महाशय एक बार तो लुढ़क गये, परन्तु फिर सम्भलकर चौगुने कोपावेश में, महाराज पर तलवार का वार करने के लिए आगे बढ़े । वे तलवार चलाना ही चाहते थे कि महाराज ने झपटकर उसे उनके हाथ से छीन लिया और भूमि के साथ टेक देकर दबाव

से उसके दो टुकड़े कर डाले। स्वामी जी ने राव महाशय का हाथ पकड़ कर कहा–"क्या तुम यह चाहते हो कि मैं भी आततायी पर प्रहार कर बदला लूं ?" राव महाशय का मुख पीला पड़ गया, तन पर मूर्च्छा सी आ गयी। इस समय स्वामी जी ने कहा–"मैं संन्यासी हूं, तुम्हारे किसी भी अत्याचार से चिढ़कर तुम्हारा अनिष्ट चिन्तन नहीं करूंगा। जाओ ईश्वर तुम्हें सुमति प्रदान करे !" महाराज ने तलवार के दोनों खण्ड दूर फेंक कर राव महोदय को बिदा कर दिया।

जिस समय यह घोर घटना घटित हुई स्वामी जी के समीप कोई पचास मनुष्य बैठे थे। वे सब, राव कर्णसिंह जी के कु-कर्म की निन्दा करते हुए स्वामी जी को सम्मति देने लगे कि राजकर्मचारियों को सूचना देकर इसका पूरा परिणाम निकलवाना चाहिए। स्वामी जी ने कहा, हम अभियोग कदापि न चलायेंगे। हमारा धर्म तो सन्तोष करना है। यदि वह अपने क्षत्रियत्व का पालन नहीं कर सका तो हम अपने ब्राह्मणत्व से क्यों गिरें ? जो धर्म का हनन करता है अन्त को उसका अपना हनन हो जाता है। इस पर स्वामी जी ने मनु का यह श्लोक सुना कर लोगों को शान्त किया।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

वहां अनेक पण्डितों और स्वामी विशुद्धानन्द, कृष्णानन्द आदि संन्यासियों से धर्म-मीमांसा होती रही और कार्तिक तक महाराज ने वहीं निवास किया।

गुरु-भक्ति चमत्कार

श्री स्वामी जी की स्मरण-शक्ति वैसे तो बड़ी प्रबल थी। दो एक बार ही के सुनने पर पाठ स्मरण कर लेते थे। उनकी

धारणा-शक्ति के कारण दण्डी जी उन पर प्रसन्न भी थे परन्तु एक दिन अष्टाध्यायी की कोई प्रयोग- सिद्धि कुछ ऐसी क्लिष्ट आई कि स्वामी जी को अपने निवास स्थान पर जाकर विस्मृत हो गई। पूर्व ऐसा कभी न हुआ था। इसलिए स्वयम् उन्हें बड़ा खेद हुआ। अन्त में गुरु जी से आकर विस्मृत प्रयोग-सिद्धि पूछी। विरजानन्द जी ने दयानन्द जी को पाठ कभी बार-बार न बताया था। इस लिए कुछ झिड़क कर कहा—"जाओ स्मरण करके आओ। यहाँ बार-बार उसी पाठ को पढ़ाने के लिए नहीं बैठे हैं।" दो तीन दिन तक श्री दयानन्द जी गुरु जी से प्रार्थना करते रहे। "महाराज ! कृपा करके एक बार फिर बता दीजिये, मैं सारा बल लगा चुका, पर क्या करूं वह पाठ स्मरण नहीं आता परन्तु विरजानन्द जी ने दुबारा प्रयोग-सिद्धि न बताई और अन्त में खिज कर श्री दयानन्द जी को कहा—"हमने एक बार तुम्हें कह दिया है कि जब तक पहले का पढ़ा हुआ पाठ न सुना लोगे तुम्हारा पाठ आगे नहीं चलेगा। अब तुम्हें कहा जाता है, यदि वह प्रयोग तुम्हें स्मरण न हो आवे तो यमुना जी में भले ही डूब मरना परन्तु मेरे पास न आना।" स्वामी जी, गुरु महाराज के चरण स्पर्श करके वहां से चले आये और विश्राम घाट के समीप, सीता घाट के शिखर पर आरूढ़ होकर विस्मृत प्रयोग-सिद्धि को स्मृति-पथ पर लाने के लिए मस्तिष्क पर बल देने लगे। उस समय उन्होंने प्रण कर लिया कि आज सायं काल तक वह प्रयोग स्मरण न हो आया तो, अवश्यमेव, यहीं से, यमुना में कूद पडूंगा और अपने कलेवर को मगर आदि जलचरों का आहार बना दूंगा। इस भीषण प्रतिज्ञा को धारण करके स्वामी जी विस्मृत प्रयोग के स्मरण करने में इतने लीन हुए, इतने एकाग्र हुए कि उन्हें देश और काल का भी ध्यान न रहा। वे अपनी देह के अभ्यास को भी भूल गये। उन पर स्वप्न की सी अवस्था आ गई उसमें उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो कोई व्यक्ति लम्बी प्रयोग-सिद्धि सुना

रहा है। जब वे सारी प्रयोग-सिद्धि सुन चुके तो सचेत हो गये और उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा मानो अभी सोकर उठे हैं। स्वामी जी की प्रसन्नता का पार न रहा। दौड़े हुए गुरु चरणों में आये और अथ से इति तक सारी प्रयोग-सिद्धि सुना दी। श्री दयानन्द जी की धारणा और धैर्य को देखकर विरजानन्द जी भी प्रेम से पुलकित-तनु हो गये। उनकी आँखों में हर्ष के आंसू डबडबा आये। गुरु जी ने वत्सलता से दयानन्द जी को कण्ठ लगा लिया और भूरि-भूरि आशीर्वाद दिये। उस दिन से, स्वामी जी को, जब कभी कोई बात विस्मृत हो जाती तो उसी प्रकार समाधिस्थ होकर स्मरण कर लिया करते थे।

दयानन्द क्या थे और क्या चाहते थे ?
इसे उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के अन्त में दिया है। स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में इस प्रकार लिखा है—

सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी इसी लिए इसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके। यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुए उसको अन्यथा जानें वा मानें उस का स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते किन्तु जिस को आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं वहीं सब को मन्तव्य और जिसको नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से उसका प्रमाण नहीं होता। अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्य्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ जिनको कि मैं मानता हूं सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूं।

मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूं कि जो तीन काल में

एक सा सब के सामने मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना, मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझ को अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्य्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता किन्तु जो-जो आर्य्यावर्त्त वा इन देशों में अधर्मयुक्त चाल चलन है उसका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूं क्योंकि ऐसा करना मनुष्यधर्म से बहिः है।

मनुष्य उसी को कहना कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व-सामर्थ्य से धर्मात्माओं—कि चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित हों—उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इसमें श्रीमान् महाराजे भर्तृहरि, व्यास जी और मनु ने श्लोक लिखे हैं, उनका लिखना उपयुक्त समझ कर लिखता हूं—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥१॥

भर्तृहरिशतक ॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥२॥
महाभारत ॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥३॥ मनु ॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥४॥
मुण्डकोपनिषद् ॥

न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत् ॥५॥
उपनिषद् ॥

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय से अनुकूल निश्चय रखना सब को योग्य है । अब मैं जिन-जिन पदार्थों को जैसा-जैसा मानता हूं उन-उन का वर्णन संक्षेप से यहां करता हूं जिनका विशेष व्याख्यान इस ग्रन्थ में अपने-अपने प्रकरण में कर दिया है । इनमें से प्रथम-

१. **'ईश्वर'** कि जिस को ब्रह्म, परमात्मादि नामों से कहते हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त परमेश्वर है उसी को मानता हूं ।

२. चारों **वेदों** को विद्या धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मन्त्रभाग को निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण मानता हूं अर्थात् जो स्वयं प्रमाणरूप है, कि

जिस के प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा न हो जैसे सूर्य वा प्रदीप स्वयं अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं। और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अङ्ग, उपाङ्ग, चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं उन को परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इन में वेदविरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूं।

इच्छामृत्यु दयानन्द

दूसरे दिन डा० लक्ष्मणदास जी का इलाज शुरू हुआ, पर उनकी दशा में कुछ भी अन्तर न हुआ। एक बार स्वामी जी ने अपने मनुष्यों से कहा कि हम को मसूदा ले चलो, इस पर सब ने कहा कि आराम होने पर हम आपको वहाँ पहुँचा देंगे, इस दशा में बार-बार यात्रा करना उचित नहीं है। इस पर स्वामी जी ने कहा कि दो दिन में हम को पूरा आराम पड़ जाएगा। यह उत्तर स्मरण रखने योग्य है। अब स्वामी जी के सारे शरीर में छाले ही छाले दीखने लगे। २९ अक्तूबर को स्वामी जी का शरीर अत्यन्त ही निर्बल हो गया। अपने सेवकों से कहा कि हमें बिठा दो। जब बिठाया गया तो कहा कि छोड़ दो, हमें सहारे की आवश्यकता नहीं है। सो कितनी देर बिना सहारे के बैठे रहे। उस समय सांस जल्दी-जल्दी चल रहा था पर स्वामी जी उसे रोक कर बल से फेंक देते थे, और ईश्वर के ध्यान में मग्न हो रहे थे। रात को कष्ट अधिक रहा। दूसरे दिन ३० अक्तूबर को डॉक्टर न्यूमन साहब बुलाए गए। जिस समय उक्त डॉक्टर साहब ने स्वामी जी को देखा तो बड़े आश्चर्य से कहने लगे कि धन्य है इस सत्पुरुष को, हमने आज तक ऐसा दिल का मजबूत कोई दूसरा मनुष्य नहीं देखा

कि जिसको इस प्रकार नख से सिख तक अपार पीड़ा हो और वह तनिक भी आह या ऊह न करे । उस समय स्वामी जी के कण्ठ में कफ की बड़ी प्रबलता थी, जिसकी निवृत्ति के लिए डाक्टर न्यूमन ने कई उपाय किए, परन्तु उनसे कुछ लाभ न हुआ । ११ बजे दिन में स्वामी जी का श्वास विशेष बढ़ने लगा, और कहा कि हम शौच जाएंगे । उस समय स्वामी जी को चार आदमियों ने उठाया और शौच करने की चौकी पर बिठा दिया । शौच गए और आप पानी लिया । हाथ धोये, दातुन की और कहा कि अब हम को पलंग पर ले चलो। आज्ञानुसार पलंग पर ला बिठाया । कुछ देर बैठकर फिर लेट गये। श्वास बड़े वेग से चलता था, और ऐसा प्रतीत होता था कि स्वामी जी श्वास को रोककर ईश्वर का ध्यान करते हैं । उस समय स्वामी जी से पूछा गया कि "महाराज, कहिए, अब आप की तबियत कैसी है ?" कहने लगे कि "अच्छी है, एक मास के पीछे आज का दिन आराम का है ।"

"इस समय लाला जीवनदास जी ने, जो लाहौर से स्वामी जी को देखने अजमेर गये थे, स्वामी जी से अभिमुख होकर पूछा–महाराज, "इस समय कहाँ हैं ?" स्वामी जी ने उत्तर दिया–"ईश्वरेच्छा में ।"

उस समय श्रीयुत के मुख पर किसी प्रकार का शोक या घबराहट प्रतीत नहीं होती थी । ऐसी वीरता के साथ दुःख को सहन करते थे कि मुंह से कभी हाय या शोक नहीं निकला । इसी प्रकार स्वामी जी को बातचीत करते-करते पाँच बज गए, और बड़ी सावधानता से रहे । इस समय हम लोगों ने श्रीयुत से पूछा कि कहिये, अब आपकी तबियत कैसी है ? तो कहने लगे कि "अच्छा है, तेज और अन्धकार का भाव है" । इस बात को हम कुछ न समझ सके क्योंकि स्वामी जी इस समय सरल बातचीत कर रहे थे । साढ़े पांच बजे का समय आया तो हम लोगों से स्वामी जी ने कहा कि अब सब

आर्यजनों को, हमारे साथ और दूर-दूर देशों से आये हैं, बुला लो और हमारे पीछे खड़ा कर दो। कोई सम्मुख खड़ा न हो, बस आज्ञा पानी थी, वही किया गया।

"जब सब लोग स्वामी जी के पास आ गए तब श्रीयुत ने कहा कि चारों ओर के द्वार खोल दो और ऊपर की छत के दो छोटे-छोटे द्वार खोल दो। इस समय पाण्ड्या विष्णुलाल मोहनलाल भी श्रीमान् उदयपुराधीश की आज्ञानुसार आ गए। फिर स्वामी जी ने पूछा कौन-सा पक्ष है, क्या तिथि और क्या वार है ? किसी ने उत्तर दिया कि कृष्ण पक्ष और शुक्लपक्ष की सन्धि अमावस मंगलवार है। यह सुनकर कोठी की छत और दीवारों की ओर दृष्टि करके, फिर पहले वेदमन्त्र पढ़े, तत्पश्चात् संस्कृत में ईश्वर की कुछ उपासना की, फिर भाषा में ईश्वर के गुणों का थोड़ा-सा कथन कर बड़ी प्रसन्नता और हर्ष सहित गायत्री मन्त्र का पाठ करने लगे, तत्पश्चात् हर्ष और प्रफुल्लित चित्त सहित कुछ देर तक समाधियुक्त नयन खोल यों कहने लगे कि, "हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर ! तेरी यही इच्छा है। तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा ! तैने अच्छी लीला की !" बस इतना कह स्वामी जी महाराज ने, जो सीधे लेट रहे थे, स्वयं करवट ली और एक प्रकार से श्वास को रोककर एकबार ही निकाल दिया।"

(आर्यधर्मेन्द्र जीवन)

लेखक के शब्द सरल और अकृत्रिम हैं। ये शब्द बताते हैं कि दर्शकों के हृदयों पर उस तपस्वी की मृत्यु का गहरा असर हुआ। कहते हैं कि लाहौर के पं० गुरुदत्त विद्यार्थी भी लाला जीवनदास जी के साथ ऋषि के दर्शनों को गए हुए थे। पं० गुरुदत्त जी इससे पूर्व अर्धनास्तिक थे। विज्ञान के धक्के ने हृदय के ईश्वर-विश्वास को हिला दिया था। ऋषि की मृत्यु के दिव्य दृश्य को देख कर पण्डित जी के कोमल हृदय पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। एक आस्तिक

किस शान्ति से मर सकता है, यह देखकर गुरुदत्त का हृदय पिघल गया और जहाँ नास्तिकता के कारण शून्य हो रहा था वहाँ विश्वास और श्रद्धा का सुगन्धित पवन बहने लगा। जो अविश्वासी हृदय के साथ मरता है, उसे भविष्य में निराशा दिखाई देती है। जिसे ईश्वर पर भरोसा नहीं, उसके लिए मौत एक अथाह अन्धेरी खाई है। जिसने जीवन में केवल आस्तिकता का दम्भ भरा हो, मृत्यु के समय उसके मुंह पर से पर्दा उठ जाता है और जो प्रत्यक्ष में सन्तुष्ट दिखाई देता था, वह असलियत में अशान्तिमय दिखाई देता है। मृत्युकाल सब पर्दों को उघाड़ देता है। उस समय कोई भाव छुपा नहीं रहता। ऋषि की मृत्यु बताती है कि उनका हृदय ईश्वर-विश्वास और धार्मिक श्रद्धा से परिपूर्ण था। ऋषि का जीवन उज्ज्वल था, परन्तु मृत्यु उससे भी बढ़ कर थी। वह दिव्य थी। इस भूगोल पर ऐसे दृश्य कम दिखाई देते हैं। वह ऐसी मृत्यु थी जो नास्तिक हृदय के मरुस्थल में से भी आस्तिकता की सरस्वती को बहा सकती थी।

जीवन के समय ऋषि के मित्र भी थे, और शत्रु भी थे : परन्तु मृत्यु ने उन सब भेदों को दूर कर दिया। देश में मृत्यु का समाचार फैलते ही एक ऐसा सार्वजनिक सहानुभूति का शब्द उठा कि छोटे-छोटे विक्षोभ दूर हो गए। ईसाई, मुसलमान, ब्राह्म, थियोसोफिस्ट सभी ने एक स्वर से आर्यजाति के नेता की मृत्यु पर दुःख प्रकाशित किया। जीते जी जो संकोचवश मौन रहते थे, वह खुल उठे और भारत के नेताओं और समाचारपत्रों ने दयानन्द की अकाल मृत्यु को देश के दुर्भाग्य का चिह्न समझा। सभी प्रकार के भारत हितैषी सज्जनों, ने, ऋषि की मृत्यु पर शोक प्रकट किया। आर्यसमाज को कितना कष्ट हुआ होगा, इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है।

* * *

स्वामी विद्यानन्द जी कृत पुस्तकें

दिव्य ज्ञान

सन्त शिरोमणि स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने अपनी चीरयुवा शैली में भारत की प्राचीन धरोहर को वेदों से खोज निकालने का सत्प्रयास अपने इस ग्रन्थ में किया है। जिसे पढ़कर छात्र भी उतने ही लाभान्वित होंगे जितने विद्वान् और वैज्ञानिक।

दीप्ति

ऋषि दयानन्द को कब, किसने, कैसे विष दिया, आर्यसमाज की स्थापना कब हुई, शरीर में आत्मा का निवास, अकालमृत्यु भारत के मूल निवासी कौन आदि विषय, जिनपर विवाद उठता रहता है उन्हें स्वामी जी ने निर्णय के तट पर पहुँचाने का प्रयास किया है।

आदि शंकराचार्य वेदान्ती नहीं थे

आदि जगद्गुरु शंकराचार्य को नवीन वेदान्त का प्रवर्त्तक माना जाता है, परन्तु स्वामी जी की मान्यता है कि शंकर मूलत: वेदान्ती या अद्वैतवादी नहीं थे। अपनी मान्यताओं की पुष्टि में शंकराचार्य के ग्रन्थों से अनेक प्रमाण उद्धृत किये हैं।

सृष्टि विज्ञान और विकासवाद

पुस्तक में जीवन की उत्पत्ति, मर्मशास्त्र, लुप्तजन्तु शास्त्र, योग्यतम की विजय, श्रमिक विकास, भूगर्भशास्त्र, ज्ञान की उत्पत्ति और उसका संक्रमण आदि विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाण पुरस्सर व तर्क-प्रतिष्ठित विवेचन हुआ है।

वेद-मीमांसा

यह वेद के अध्ययन-अनुसन्धान की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इसमें पाश्चात्य एवं तदनुयायी भारतीय वेदालोचक विद्वानों के मतों की तीव्र आलोचना करते हुए सही भारतीय मत का प्रतिपादन करने का प्रयास किया गया है।

राजधर्म

महर्षि दयानन्द ने भारतीय वाङ्मय के आधार पर अपनी अन्तर्दृष्टि से राजनीति के जो मूल और व्यावहारिक सिद्धान्त अपने ग्रन्थों के द्वारा प्रतिपादित किये हैं, वे आज भी उतने ही व्यावहारिक हैं। यही मूल सिद्धान्त तथा उसके उपयोग पुस्तक में प्रस्तुत हैं।

विषवृक्ष

लेखक के 'दु:खी दिल की पुरदर्द दास्तान' है यह पुस्तक। आर्यसमाज महर्षि दयानन्द की आशाओं की फुलवारी है। स्वामीजी ने आज की परिस्थिति पर दु:ख व्यक्त करते हुए इन विषवृक्ष को उखाड़ फेंकने पर जोर दिया है।

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत

गंगा-ज्ञान-सागर (भाग-१)— पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के दुर्लभ लेखों व हिन्दी, अंग्रेजी व उर्दू में लिखे गए कई ट्रेक्टों, छोटी पुस्तकों व व्याख्यानों का संकलन। विषयों की विविधता के कारण सभी प्रकार के पाठक इसमें अपनी-अपनी सामग्री पाएगें। विद्वानों, लेखकों, उपदेशकों, शोध-छात्रों के लिए यह ग्रन्थ अनिवार्य है। गुरुकुलों के स्नातक, छात्र, नए-नए पुरोहित व युवक इसे पढ़कर अच्छे वक्ता, कथावाचक, लेखक व विद्वान बनेंगे।

पृष्ठ : ५७६, आकार : २०×३०/८

वेद प्रवचन— उपाध्याय जी की वेद-व्याख्या शैली तार्किकतापूर्ण, प्रशंसनीय तथा सुबोध है। यह ग्रन्थ जनसाधारण, पण्डितों एवं उपदेशकों के लिए उपयोगी है। स्वाध्यायशील पाठकों के लिए संग्रहणीय। पृष्ठ : ३६०, आकार : २३×३६/१६

सन्ध्या : क्या ? क्यों ? कैसे ?— जिस प्रकार आप शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भोजन करते हैं, इसी प्रकार आध्यात्मिक और मस्तिष्क के स्वास्थ्य के लिए आप सन्ध्या अर्थात् ईश्वर के 'गुणों' का ध्यान करते हैं। पुस्तक में सन्ध्या का वास्तविक व्यवहारिक अर्थ तथा विधि-विधान प्रस्तुत है। पृष्ठ : १३२, आकार : २०×३०/१६

विवाह और विवाहित जीवन— विवाह और विवाहित जीवन की भावनाओं में जो परिवर्तन हो रहा है, इस पुस्तक में इस खतरे के विरूद्ध चेतावनी दी गई है और उसके निवारण के उपाय बताये गये हैं। पृष्ठ : १८४, आकार : २०×३०/१६

भगवत् कथा— भारतवर्ष में कथा सुनना धार्मिक कृत्यों में बहुत बड़ा स्थान रखता है। भगवत्-कथा इसी की पूर्त्ति के लिए लिखी गयी है। इसका मूल आधार उपनिषद् है। प्रायः सभी सामग्री उपनिषदों की हैं। पृष्ठ : १२८, आकार : २०×३०/१६

जीवात्मा—पुस्तक में 'मैं' और 'मेरा' शरीर, अहङ्कार, जीवात्मा के लक्षण, शरीर और शरीरी, स्मृति और विस्मृति, मस्तिष्क, समानान्तरवाद, प्रतिक्रियावाद, अभौतिक आत्मा, स्वप्न और सुषुप्ति, जन्म से पूर्व और मृत्यु के पीछे, पुनर्जन्म, मुक्ति, योनि-परिवर्तन, जीव-ब्रह्म-सम्बन्ध आदि पर विवेचनात्मक अध्ययन किया गया है। पृष्ठ : ३१६, आकार : २०×३०/१६

उपदेश सप्तक—वेदों के गूढ़ विषयों को बात-चीत के माध्यम से समझाया गया है। इसका उद्देश्य साधारण लोगों में वेद-प्रेम उत्पन्न करना है, ताकि वे वेदमार्ग पर चलने की प्रेरणा लेकर वेदों के विषय में ज्ञान प्राप्त करें।

पृष्ठ : ३२, आकार : २०×३०/१६

वैदिक मणिमाला—चुने हुए वेद-मन्त्रों की अत्यन्त उपयोगी, सरल, सुबोध, रोचक व मौलिक व्याख्या। इसमें वेद-मन्त्रों का भावार्थ अंग्रेजी भाषा में भी दिया गया है। जो लोग थोड़े गुड़ डालकर अधिक मीठे का स्वाद लेना चाहते हैं तो वे इसे पढ़ जाएँ।

पृष्ठ : ३६, आकार : २०×३०/१६

कर्म फल सिद्धान्त—पाप, पुण्य, दुःख, सुख, मृत्यु, पुनर्जन्म, जीव व ब्रह्म का सम्बन्ध विषयक अनेक मूलभूत प्रश्नों पर इस पुस्तक में युक्तियुक्त सप्रमाण प्रकाश डाला गया है। प्रश्नोत्तर शैली में अत्यन्त शुष्क विषय को उपाध्यायजी ने बड़ा रोचक व सरल-सुबोध बना दिया है। पृष्ठ : १२०, आकार : २०×३०/१६

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
..., नई सड़क, दिल्ली-६